कुण्डलिनी

(व्यक्तिगत अनुभव)

– महात्मा श्री नारायणदास जी

मूल्य :
50/- रुपये

गुरु पूर्णिमा
9 जुलाई 2017

कुण्डलिनी

व्यक्तिगत अनुभव
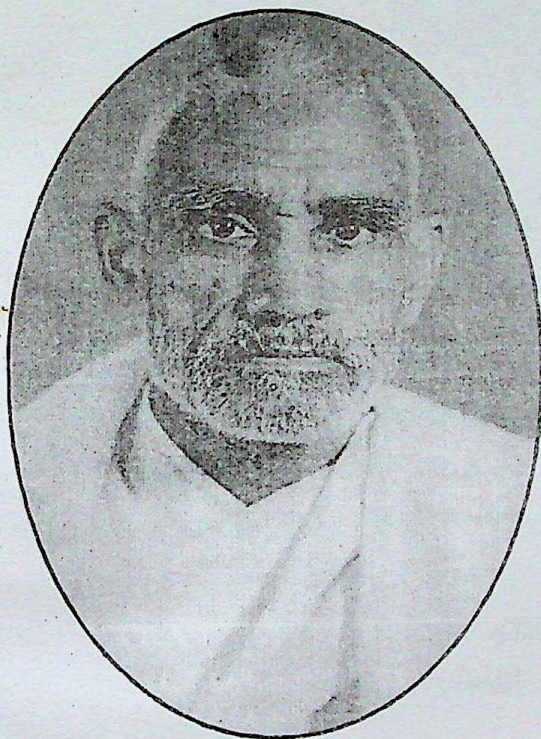
लेखक -

महात्मा स्व. श्री नारायणदास जी

प्रकाशक -

नारायण आध्यात्मिक ट्रस्ट

नारायण आध्यात्मिक आश्रम, सरक्यूलर रोड, शिवपुरी (मध्यप्रदेश)

प्राक्कथन

यह सत्य है कि जनसाधारण की मनोवृत्ति प्रायः उस विचारधारा की ओर ही प्रवृत्त हुआ करती है जो सामयिक हो। आज अशान्ति से संतप्त होकर लोग शान्ति प्राप्ति की खोज करने चल पड़े हैं। वर्षों की विस्मृत हुई आध्यात्मिकता पुनः अपनाई जाने लगी है। आध्यात्मिकता की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित होते ही उनकी दृष्टि योगसाधना की ओर ही सर्वप्रथम गई। चूँकि योगारूढ़ होने के लिये 'कुंडलिनी शक्ति' अत्यन्त महत्वपूर्ण बताई गई है, अतः जैसे भारत में वैसे ही विदेशों में भी 'कुंडलिनी शक्ति' की जाग्रति की चर्चा आजकल विशेष रूप से सुनी जाती है। फलतः 'कुंडलिनी' जाग्रत कराने वाली अनेक संस्थाओं का जन्म हो गया है तथा तत्सम्बन्धी प्राचीन साहित्य को रोचक नवीन रूप देकर प्रकाशित किया जा रहा है ।

यह साहित्य प्रधानतः चार भागों में विभक्त किया जा सकता है - भौतिक सम्बन्धी, तन्त्रविद्या सम्बन्धी, हठयोग सम्बन्धी तथा मोक्ष सम्बन्धी। भौतिक सिद्धान्त के आधार पर जो साहित्य सृजन हुआ है वह नाड़ी संस्थान के माध्यम से शारीरिक स्वास्थ्य एवं मानसिक विकास की अभिवृद्धि तक ही सीमित रहा है। तंत्रविद्या एवं हठयोग सम्बन्धी साहित्य भौतिक सिद्धान्त से कुछ ऊपर उठकर चमत्कारिक सिद्धियाँ प्राप्त करने की विधियाँ बताता है जिससे तांत्रिक अथवा हठयोगी की जनसाधारण में प्रतिष्ठा बढ़ जावे। मोक्ष सम्बन्धी साहित्य, साधक के मानस को शरीर और विचारों के क्षेत्र से ऊपर उठाकर परमात्मतत्व में लीन होने को आकर्षित करता है ।

सचमुच, संसार बहुत बड़ा है जिसमें विभिन्न रुचियाँ रखने वाले मानव निवास करते हैं । अपनी-अपनी रुचि के अनुसार किसी को भौतिक सिद्धान्त प्रिय लगता है तो किसी को तन्त्र या हठयोग के सिद्धान्त तो किसी को मोक्ष सम्बन्धी। इस प्रकार अपने-अपने स्थान पर सभी साहित्य उपयोगी हैं, किन्तु ये साहित्य एकदेशीय ही अनुभव होते हैं, सार्वभौमिक नहीं। अस्तु जनसाधारण को ऐसे आध्यात्मिक साहित्य की आवश्यकता है जो उन्हें गृहस्थ धर्म के समस्त कर्तव्यों का निर्वाह करते हुए स्वस्थ रख सके, मस्तिष्क को

संतुलित रखने में योग दे, समाज, देश एवं अन्तरराष्ट्रीय सेवा तक ही सीमित न रख प्राणीमात्र की सेवा के लिये अनुराग उत्पन्न करावे तथा सब कुछ करते हुए जीवनमुक्ति प्रदान कराने में समर्थ हो।

विश्व में व्याप्त मानवमात्र की विचारतरंगों से मेरे मस्तिष्क की विचारतरंगें प्रभावित होकर प्रकृति ने मुझे अपनी शक्ति की अनुभूति करने की प्रबल प्रेरणा दी और पाँच अप्रैल उन्नीससौ सैंतालीस को मुझे अनुभूति हुई। मेरी अनुभूति की हुई शक्ति 'कुण्डलिनी शक्ति' ही है इसकी पुष्टि होने पर इस दिशा की ओर ही मेरा उत्तरोत्तर विकास होता गया। इन अट्ठाईस वर्षों में जो कुछ व्यक्तिगत अनुभव हुआ उससे जनसाधारण भी लाभान्वित हो सके इस दृष्टिकोण से ही यह पुस्तक 'कुण्डलिनी' (व्यक्तिगत अनुभव) नाम से प्रकाशित की जा रही है।

आशा है, यह पुस्तक आध्यात्मिक दृष्टिकोण से अपेक्षित अधिकांश बातों की पूर्ति कर सकेगी। इस पुस्तक में दी गई 'कुण्डलिनी शक्ति' के अनुभव की विधि अत्यन्त सरल है। प्रत्येक मानव इसे अपना सकता है। मानव सहज ही वह योग्यता प्राप्त कर सकता है जिससे वह गृहस्थ धर्म का पालन उत्तमता से कर सके, स्वयं को स्वस्थ रखकर मस्तिष्क को संतुलित रख सके तथा प्राणीमात्र की सेवा में उत्तरोत्तर अभिरुचि बढ़ा सके। साथ ही सब कुछ करते हुये जीवनमुक्त पथ पर शनैः शनैः चलकर जीवनमुक्ति प्राप्त कर ले।

मार्गशीर्ष पूर्णिमा

सम्वत् 2032 वि.

– लेखक

अनुक्रमणिका

मानव की सर्वोपरि माँग

यह सर्व विदित है कि नवजात शिशु माता के गर्भ से बाहर आते ही रुदन करने लगता है। ऐसा लगता है कि सम्भव है उसकी माँग की पूर्ति गर्भाशय में पूर्ण हो रही थी और गर्भ से बाहर आते ही उसे अपनी माँग का अभाव खटकने लगा हो। क्योंकि अभाव ने ही बोलने में असहाय शिशु को रोने के लिये बाध्य किया है। शिशु के लिये रोना ही, माँग व्यक्त करने की नैसर्गिक विधि निर्माण करने वाली शक्ति ने सम्भवतः निर्धारित की हो। किन्तु प्रायः यही अनुभव होता है कि सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति शिशु की माँग पर ध्यान तो नहीं देते और जो उन्हें ठीक लगता है उसे ही करते हैं। उन्हें गर्भाशय की गन्दगी से सने बालक को साफ सुथरा करना रुचिकर होता है। अतः वे उसे गर्म पानी से धो पोंछकर तेल मर्दन कर माँ के पास लिटा देते हैं। शिशु को स्वच्छ करने की क्रिया में संभवतया सुख अनुभव होता होगा जिससे उसकी माँग थोड़ी देर को दब सी जाती है। किन्तु थोड़ी देर बाद ही शिशु पुनः रुदन करने लगता है। तो फिर पालक उसे शहद चटा देते हैं। शहद चटाने से उसकी माँग आंशिक रूप से पूर्ण हो जाती है, किन्तु पूर्ण तृप्ति नहीं होती। जब शिशु को माँ दूध पिला देती है तब ही उसकी पूर्ण तृप्ति हो जाती है और शिशु चुप होकर सो जाता है। इस प्रकार ऐसा लगता है कि शिशु जन्म से ही अपनी क्षुधा निवृत्ति करने की माँग लेकर आता है। कभी-कभी कोई शिशु अपने अंगूठों को मुख में रखकर चूसने की क्रिया करता है। अंगूठों को चूसना भी क्षुधा निवृति करने में क्षणिक सहायक है। इससे शिशु का मन बहलाव हो जाता है। मां के दूध से क्षुधा निवृति करने के उपरान्त शिशु का रुदन समाप्त हो जाता है। वह लेटा-लेटा इधर उधर को हाथ पैर चलाता है, कानों से विभिन्न शब्द सुनता है, आँखो से विविध आकृतियाँ देखता है। सुने हुए शब्दों के तथा देखे हुये पदार्थों के चिह्न उसके मस्तिष्क में बनते रहते हैं। जब शिशु सरकने लगता है, कुछ कुछ अस्पष्ट शब्द बोलने का प्रयास करता है तब कभी तो आँखें रंग बिरंगी चीजों की ओर देखने लगती हैं, कभी कभी जिधर से भी कुछ ध्वनि आती है उधर की ओर मुख करता है, कभी कोई चीज कोई दिखाता है तो उसे पकड़ना चाहता है और जो वस्तु पकड़ में आ जाती है उसे मुख में रखने की चेष्टा करता है, कभी कोई थपकी देता है या चुटकी लगाता है अथवा उसकी ठोड़ी से हाथ लगाकर हँसाता है तो शिशु भी हँसने जैसी चेष्टा करने लगता है। जैसे जैसे उसकी आयु बढ़ती जाती है वैसे-वैसे ही उसके आकर्षण बदलने लगते हैं। अपनी आयु के बच्चों के साथ खेलने लगता है, भागने की चेष्टा करता है तथा नाना प्रकार की अटपटी लीलायें करता है।

शनैः शनैः प्रारम्भिक पाठ्यक्रम आदि की क्रियाओं को करने लगता है।

इस प्रकार शिशु की आमोद प्रमोद की माँगें परिस्थिति के अनुसार बदलने लगती हैं। किशोर अवस्था की पहुँच पर शिशु जैसी माँगें गौण होती जाती हैं और खेलने की, पढ़ने की, साथियों में रहने आदि की क्रियायें प्रमुख रूप से व्यक्त होने लगती हैं। साथियों जैसे वस्त्र पहिनने या खाने पीने की वस्तुओं के लिये आग्रह होने लगता है। यदि उसकी माँगों की पूर्ति हो जाती है तो वह प्रसन्नता का अनुभव करता है और यदि उसकी माँगों की पूर्ति नहीं होती तो वह दुःखी हो जाता है। इस प्रकार भी सुखी कभी दुःखी होकर अपना जीवन व्यतीत करने लगता है। कोई कोई बालक की महत्वाकांक्षा भी इस अवस्था में स्पष्ट होने लगती है। कोई विज्ञान में रुचि लेने लगता है तो कोई किसी कला में, कोई स्वार्थ की ओर तो कोई परोपकार की ओर अपनी चित्तवृति को दौड़ाने लगता है। प्रकृति के नियमानुसार बालक अपनी किशोर अवस्था को पार कर तरुणावस्था में प्रविष्ट हो जाता है इस अवस्था में उसकी अर्जित विचारधारायें निखरने लगती हैं और इन्हीं की पुष्टि में वह तल्लीन रहता है। इसी अवस्था में प्रायः उसे गृहस्थ जीवन को अपनाना होता है। गृहस्थ होते ही गृहस्थी सुख पूर्वक चलती रहे वे ही कार्य उसे अधिक रुचिकर लगते हैं। वे माता पिता बनने के इच्छुक होने लगते हैं। माता-पिता होते ही उनके उत्तरदायित्व बढ़ने लगते हैं। माता पिता के रूप में उन्हें यही चिन्ता विशेष रूप से होने लगती है कि उनकी सन्तान स्वस्थ रहे, योग्य बने और धनधान्य से सम्पन्न होकर उनके विचारों के अनुकूल ही उनके विवाह संस्कार हो जावें ।

इस प्रकार अपनी सन्तानों को सब प्रकार से समृद्धशाली बनाते बनाते वृद्धावस्था आने लगती है। अब तरुण अवस्था की उमंगें गौण हो जाती हैं और अब उसके सामने गृहस्थी को सुचारु रूप से चलाने के साथ साथ गृहस्थी से पिंड छुड़ाकर प्रायः आध्यात्मिक जीवन अपनाने के भाव आते हैं। अतः अब उसे सत्संग आदि में भाग लेना अच्छा लगता है। धार्मिक जीवन में भी अभिरुचि हो जाती है इस स्थिति में पहुँचने पर गृहस्थी के विचार गौण होने लगते हैं। पापों से बचना चाहता है। पुण्य अर्जन करना चाहता है। इस जीवन के पाप पुण्यों के विचारों के साथ पारलौकिक विचारों का भी उसे चिन्तन होने लगता है। हाँ, अब उसकी माँगें न तो शिशु जीवन जैसी होती हैं न किशोर अवस्था की और न गृहस्थ जीवन की। अब तो उसे ज्ञान प्राप्ति की, परमात्मा को जानने की, जन्म मृत्यु चक्कर से उबरने की और शान्ति प्राप्त करने आदि की ही प्रमुख रूप से माँगें उभरती हैं।

इस प्रकार एक माँग के बाद दूसरी माँग उठती ही रहती है। माँगों से वह उबरता

नहीं। साथ ही वह अब बल, विद्या, बुद्धि, प्रतिष्ठा, वैभव, विवेक और आध्यात्मिकता आदि के सम्पर्क में आने वाले जन समुदाय से ऊपर उठने को लालायित होने लगता है। जब वह सिद्ध महात्माओं के सम्पर्क में आता है तो उसकी मनोवृत्ति सिद्धियाँ प्राप्त करने की ओर दौड़ने लगती हैं और इन्हें प्राप्त करने के लिये वह महान् प्रयास करता है। संयोगवश कोई सिद्धि भी उसे प्राप्त हो जाती है। लोगों में सम्मान बढ़ने लगता है। उसकी प्रसिद्धि भी शनैः शनैः होने लगती है। किन्तु सिद्धि प्राप्त स्थिति भी उसे कालान्तर में अपूर्ण अनुभव होने लगती है क्योंकि सिद्धियाँ भी एकदेशीय होती हैं। तब उसकी चित्तवृत्ति सिद्धियों से हटकर पूर्ण वैराग्य प्राप्त करने की ओर हो जाती है। पूर्ण बैराग्य की भावना उसे गुणातीत स्थिति में रहने को प्रेरित करती है। अब उसे अपनी निर्विकारी स्थिति ही रुचिकर लगती है। शनैः शनैः उसकी बुद्धि में यही आने लगता है कि जब तक व्यक्ति सर्वशक्तिमान नहीं हो जाता तब तक उसके सभी प्रयास अधूरे ही हैं। सर्वशक्तिमान होकर ही वह सर्वेसर्वा हो सकता है। तब ही उसे स्पष्ट अनुभव होगा कि उसकी सत्ता से ही सूर्य स्थित है और वही चन्द्रमा को प्रकाशित करता है। पृथ्वी उसकी सत्ता पर ही स्थित है। जल, थल, नभ में उसकी सत्ता ही व्याप्त है। प्रत्येक प्राणी का अस्तित्व उसी की सत्ता पर निर्भर है। वह सदैव ही एक रूप से स्थित है, अखण्ड है, शुद्ध सच्चिदानन्द है।

इस प्रकार उसकी मनोवृत्ति समाधिस्थ स्थिति में हो जाती है। किन्तु ऐसी स्थिति उसकी स्थायी नहीं रहती। उसे अनुभव होने लगता है कि शनैः-शनैः वह पुनः अपनी पूर्व स्थिति पर आ गया है। तब उसका ध्यान अपने वास्तविक रूप की स्थिति जानने की ओर जाता है। उसे अनुभव होता है कि उसके अनेक रूप हैं और वे सब के सब ही उपयोगी हैं। किसी भी रूप के बिना उसका काम नहीं चलता। यदि हम विचार करें तो हमें विदित होगा कि निर्विकारी परमात्म सत्ता तक हमें अपना ध्यान ले जाने में क्रम-क्रम से मस्तिष्क के विभिन्न स्तरों से जाना होता है और यह जाने वाला जानने के लिये उत्सुक अहंकार ही है। जब अहंकार अपने शरीर के सम्बंध में यह सोचता है कि शरीर उसका है तब वह अपने को शरीर से पृथक् अनुभव करता है। हाँ, यह सत्य है कि वह आँख से अपने शरीर को पृथक् नहीं देख सकता केवल बुद्धि से ही समझ पाता है पर समझता इतनी दृढ़ता से है कि उसके विश्वास में किंचित् भी कमी नहीं आती। इस साक्षी भाव की स्थिति में उसे अपनी प्रकृति ही काम करती अनुभव में आती है जैसे - विचार आ रहे हैं, जा रहे हैं, अन्न के पाचन की विविध क्रियायें स्वतः ही सम्पन्न हो रही हैं, रक्त का प्रभाव समस्त शरीर में दौड़ रहा है, नाड़ियाँ आदि अपनी-अपनी स्थिति में कार्यरत हैं। इस स्थिति में उसे स्पष्ट अनुभव होता है कि "मैं ही शुद्ध सच्चिदानन्द रूप के सदृश पुरुष अथवा ब्रह्म हो सकता

हूँ और मेरी प्रकृति सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और संहार करने वाली के सदृश हो सकती है। इस प्रकार इस समय मुझसे पुरुष-प्रकृति अथवा ब्रह्म-माया का अभिनय हो रहा है।''

चूँकि प्रत्येक व्यक्ति भी इसी प्रकार अनुभव कर सकता है अतः यह समझना असम्भव नहीं है कि समष्टि रूप में वस्तुतः पुरुष एवं प्रकृति के माध्यम से सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय की क्रियायें सम्पादित हो रही हैं और इन्हें अनादि होना चाहिये। इन्हीं दो तत्त्वों को व्यक्तियों की विभिन्न रुचियों के अनुसार सम्भव है, राम-सीता, कृष्ण-राधा, शंकर-पार्वती, आदि संज्ञा देकर भारत के मनीषियों ने अपनाया हो। पुरुष या ब्रह्मतत्त्व सदैव साक्षीवत् अनुभव होता है और उसके साक्ष्य में प्रकृति की ही क्रियाकलापें होती रहती हैं। अस्तु, प्रकृति ही अध्ययन का विषय तत्त्वदर्शियों का रहा हो।

यहाँ तक जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट होता है कि जीवन यापन की दृष्टि से प्रकृति की जानकारी ही परमावश्यक है। मनन करने से अनुभव होता है कि परमात्मसत्ता से प्रभावित प्रकृति के दो रूप - स्थूल और सूक्ष्म । स्थूल रूप में शरीर एवं इन्द्रियाँ हैं जो प्रत्यक्ष देखने में आती हैं और सूक्ष्म शरीर में मस्तिष्क में संग्रहीत तत्त्वों में स्मृति चिह्न हैं। ये स्मृति चिह्न प्रमुख रूप से अहंकार के हैं जो सेवकवत् हैं। इस अहंकार को दो प्रकार से काम करना पड़ता है - एक तो सामाजिक बुद्धि से और दूसरे अन्तःप्रेरणा से। सामाजिक बुद्धि से प्रेरित होकर कर्म करने में उसे इन्द्रियों से काम लेना पड़ता है। यह बुद्धि समाज से पड़े गलत और सही संस्कारों से मिश्रित होती है। अतः उससे इन्द्रियों का कभी गलत तो कभी सही उपयोग होता है। गलत उपयोग होने पर अन्तः प्रेरक संस्कार जैसे स्वामी सेवक को गलत काम होने पर रोक देता है वैसे ही यह संस्कार इन्द्रियों का दुरुपयोग होने पर रोक लगाता अनुभव में आता है। निश्चय ही समस्त संस्कारादि के गतिशील होने की क्रिया जिस सत्ता के माध्यम से सम्पन्न होती है उसे ही शरीर में सर्वशक्तिमान् सक्रिय शक्ति होना चाहिये। वैसे तो यह सक्रिय शक्ति प्रत्येक प्राणी में सदैव ही स्थित रहती है और प्राणी की समस्त क्रियाओं के सम्पादन करने का मूल आधार है किन्तु प्राणी का अहंकार प्रायः इस शक्ति से अपरिचित रहता है। सम्भवतया जब प्रकृति के निर्धारित नियमानुसार यह शक्ति अहंकार को प्रेरित करती है और उसे पूर्णतः विकसित कर जन्म-मरण आदि से मुक्त करना चाहती है यानी उसको जीवनमुक्त श्रेणी में रखकर जगहितार्थ अनुकरणीय प्राणी बनाना अभीष्ट होता है तब व्यक्ति अपनी शक्ति से परिचित होने को लालायित हो उठता है और उन व्यक्तियों की खोज करता है जिनसे जीवनमुक्त व्यक्तियों सदृश आचरण करने में उसे सहायता मिलती है। अन्ततोगत्वा

ऐनकेनप्रकारेण उसका सम्पर्क ऐसे महापुरुषों से हो जाता है जिनके माध्यम से वह अपनी शक्ति से परिचित हो जाता है और वह स्वयं जीवनमुक्त होकर कर्तव्यपरायणता के पथ पर अग्रसर होने लगता है। यही मानव जीवन की अंतिम विवेकपूर्ण कर्मसीमा है जो उसे सुख दुःख से ऊपर उठने के हेतु उसके मस्तिष्क को सदैव संतुलन में रखने का प्रयास करती है ।

अस्तु, मानव के अहंकार की सर्वोपरि माँग, इसी शक्ति से परिचित होकर कर्तव्य पालन करना प्रतीत होती है। यद्यपि अहंकार के संस्कार यह भी अनुभव करते हैं कि इस शक्ति का आधार भी कोई अन्य दूसरी शक्ति होना चाहिये। फिर उस शक्ति का आधार भी कोई उससे परे तीसरी शक्ति को होना चाहिए। इस प्रकार एक दूसरे के आधार के रूप में अनन्त शक्तियों को होना चाहिये। किन्तु अहंकार इन शक्तियों की जानकारी को अपनी बुद्धि से परे अनुभव करता है। उसकी बुद्धि की अन्तिम पहुँच प्रथम शक्ति तक ही है। अतः मानव जीवन की सार्थकता तभी है जबकि उसे इस शक्ति से परिचित होने की अन्तः प्रेरणा हो और यही उसकी सर्वोपरि माँग हो सकती है। चूँकि प्राणी की समस्त क्रियाओं का मूल आधार यही शक्ति अनुभव में आती है, अतः इसे प्राणशक्ति अथवा जीवनाधारशक्ति कहा जावे तो असंगत नहीं ।

संभव है पूर्वकाल के ऋषियों ने अनुभव किया हो कि जैसे धूल में फूँक मारने से धूल वृत्ताकार उड़ती है, जल में कोई वस्तु गिरे तो वह जल में गोलाकार वृत्त बनाती है वैसे ही जीवन की मूलाधार शक्ति भी जब गतिशील होती है तब उसे भी वृत्त बनाना चाहिये। चूँकि कुंडल भी वृत्ताकार होते हैं अतः ऐसा लगता है कि वृत्त बनाने वाली प्राणशक्ति को भी ऋषिगण कुंडलिनी शक्ति सम्बोधन करने लगे हों जो कालान्तर में केवल कुंडलिनी नाम से विख्यात हो गई हो। सम्भव है, इस शक्ति के परिचय प्राप्त करने को ही तब कुंडलिनी को जाग्रत करना कहा जाने लगा हो। चूँकि प्रत्येक व्यक्ति का निजी अनुभव भिन्न भिन्न होता है अतः तत्त्व दर्शियों के भी इस शक्ति से परिचित होने के भिन्न भिन्न अनुभव हो सकते हैं। फलतः व्यक्तियों के मानसिक स्तरानुसार विभिन्न संप्रदाय स्थापित होने लगे और उनके अनुयायियों द्वारा विभिन्न परम्परायें निर्मित हुई। इस प्रकार शक्ति की अनुभूति करना तो सभी सम्प्रदायों का लक्ष्य रहा है पर अनुभूति करने की रीतियाँ विविध हो गईं। जिस व्यक्ति को जिस विधि से शक्ति अनुभव हो उसे वही विधि श्रेष्ठ अनुभव होगी। अस्तु, विधि चाहे कोई भी हो किन्तु लक्ष्य प्राप्त होना ही प्रमुख है ।

कुंडलिनी शक्ति क्या है ?

यह अनुभूत तथ्य है कि जीवन शक्ति पर निर्भर है। बिना शक्ति के आँख, कान, नाक, जीभ, हाथ, पैर आदि कुछ भी कार्य नहीं कर सकते। ऐसे ही न तो मन संकल्प विकल्प कर सकता है न बुद्धि ही निर्णय दे सकती है। अहंकार भी गतिशील नहीं हो सकता। अस्तु, जीवन का आधार शक्ति है कहा जावे तो असंगत नहीं। स्थूल रूप से तो ऐसा अनुभव होता है कि श्वासप्रश्वास पर जीवन अवलम्बित है किन्तु श्वास के आने जाने में व्यक्ति का कुछ भी प्रयास नहीं अनुभव होता। वह तो स्वतः ही आती जाती रहती है। हाँ, यदि व्यक्ति अन्नजल न ग्रहण करे तो शनैः शनैः शरीर गिरता जावेगा। श्वास की गति धीमी पड़ जावेगी और अन्ततोगत्वा शरीर मृतक हो जावेगा । इस दृष्टि से यदि ऐसा कहा जावे तो अनुचित न होगा कि व्यक्ति के अस्तित्व के लिये अन्नजल ग्रहण करना परमावश्यक है। साथ ही व्यक्ति को इस बात का गर्व है कि यदि वह शरीर को अन्नजल न दे तो शरीर अधिक टिक नहीं सकता। अतएव शरीर को जीवित रखने में व्यक्ति का प्रमुख स्थान है। यही कारण है कि व्यक्ति प्रायः यह कहने में गर्व अनुभव करता है कि वह ही सर्वेसर्वा है। उसके दिये हुए अन्नजल से शक्ति उत्पन्न होती है तब शरीर रूपी यंत्र चलता है। इस प्रकार उसकी दृष्टि से वह और उसकी भौतिक शक्ति ही सब कुछ है।

परन्तु जब व्यक्ति भौतिक शक्ति के कार्य पर विचार करता है तो उसे शनैः शनैः यह तथ्य स्पष्ट होने लगता है कि अन्नजल आदि से भौतिक शक्ति बनती तो अवश्य है पर इस शक्ति की संचालन व्यवस्था में व्यक्ति यदि अन्नजल अपने मुख द्वारा शरीर में डाल देता है तो वह पर्याप्त नहीं है। गले से नीचे पेट की ओर पहुँचने तक अन्नादि विभिन्न क्रियाओं के द्वारा रस में परिणत होते हैं। फिर यह रस शुक्र आदि में परिणत हो जाता है। इन सब क्रियाओं में व्यक्ति अपना प्रयास लेश मात्र भी अनुभव नहीं करता। तब उसे हारकर यही कहना पड़ता है कि उसका अन्नजल मुख में पहुंचाने का कार्य तो अत्यन्त ही साधारण है। वस्तुतः जीवन व्यवस्था का कार्य किसी अन्य सत्ता के माध्यम से होता है जो सर्वथा स्वतंत्र है और उसका कार्य भी एकदम सुव्यवस्थित है। साथ ही उसे यह भी स्पष्ट होने लगता है कि उसका अन्नजल देने का साधारण काम भी उसी स्वतंत्र सत्ता से प्रदत्त शक्ति पर ही अवलम्बित है अन्यथा वह अन्नजल मुख में नहीं डाल सकता। अस्तु, जो सत्ता शारीरिक एवं मानसिक समस्त क्रियाओं का सम्पादन करती है वही वस्तुतः प्रमुख सत्ता है ।

यह प्रमुख सत्ता क्या है अब इस पर ही विचार करना है यह तो स्पष्ट है कि जीवन में हमें कार्य तो करना पड़ता ही है और कार्य करने में शारीरिक एवं मानसिक सभी शक्तियों का क्षीण होना भी स्वाभाविक है। किन्तु विचार करने पर यह अनुभव होता है कि व्यक्ति अपनी शारीरिक सामर्थ्य के अनुसार ही काम कर सकता है। यदि थक जाने पर फिर भी काम करने के लिये आग्रह किया जावे तो उसे कष्ट अनुभव होगा, सिर में चक्कर आने लगेंगे। फिर कितना भी आग्रह क्यों न किया जावे उस व्यक्ति से काम न होगा। चाहे व्यक्ति अत्यन्त ईमानदार एवं सच्चा ही क्यों न हो वह फिर काम करने में अपनी पूर्ण असमर्थता अनुभव करेगा। यदि हम प्रश्न करें कि क्या उस व्यक्ति में शक्ति नहीं रही तो यही करना पड़ेगा कि हाँ, उसमें शक्ति नहीं रही। किन्तु किंचित् गम्भीरता से विचार करने पर अनुभव होगा कि कर्म करने के लिये सचमुच उसकी इन्द्रियों में शक्ति का अभाव हो गया है पर यदि फिर भी वह जीवित है तो शक्ति का कुछ न कुछ अंश उस व्यक्ति में अवश्य विद्यमान है जिसके आधार पर वह विश्राम करेगा, भोजन करेगा, शयन करेगा तदुपरान्त पुनः उस बची हुई शक्ति को पूर्ववत् कर्म करने में समर्थ पावेगा। अस्तु, यह निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति जब कर्म करते-करते पूर्णतः थक जाता है तब भी उसमें उसके जीवन की रक्षार्थ कुछ न कुछ शक्ति अवश्य रहती है। यदि यह शेष शक्ति न रहे तो जीवनलीला समाप्त हो जावेगी। अतः इस शेष शक्ति को जीवनाधार शक्ति कह सकते हैं। इस शक्ति की ज्यों-ज्यों वृद्धि होगी त्यों-त्यों ही व्यक्ति में कर्म करने की क्षमता बढ़ती जावेगी। अब यह विचारणीय है कि यह शक्ति कैसे बृद्धि को प्राप्त होती है ? हमें यह अनुभव प्रायः नित्य ही होता है कि जब तक हम काम करते रहते हैं हमारी शारीरिक शक्ति क्षीण होती रहती है। और जब हम काम करना बन्द कर देते हैं तब शारीरिक थकावट दूर होने लगती है किन्तु, हमारे सोचने विचारने का काम फिर भी बन्द नहीं होता। फलतः शरीर की थकावट दूर होने पर भी मानसिक थकावट बनी ही रहती है । मानसिक थकावट तभी बन्द होगी जबकि हम कुछ भी न सोचें या विचारें। हाँ, जब हमें नींद आ जाती है अथवा किसी कारण हम बेहोश हो जाते हैं तब जागने पर अथवा होश आने पर ऐसा अनुभव होता है कि नींद की स्थिति में अथवा बेहोशी की स्थिति में हमें विचारों के दौर का कुछ भी अनुभव नहीं हुआ। इससे हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि बिना बेहोश हुये अथवा नींद के वशीभूत हुये यदि किसी युक्ति से हम कुछ अवधि के लिये अपने को विचारों से परे करलें तो हमारी शक्ति को पूर्ण रूपेण विकसित होने का अवसर मिल सकता है। अब प्रश्न उठता है कि जब हम अपने विचारों से परे हो जावेंगे तो फिर हमारी शक्ति का विकास कौन करेगा ? जिन व्यक्तियों

को अपने विचारों से परे होना आ जाता है उनको अनुभव होता है कि तब अहंकार कुछ काम नहीं करता, प्रकृति स्वत: ही काम करती है। जब प्रकृति को स्वयं काम करने का अवसर मिला तो वह शारीरिक क्रियाओं द्वारा शरीर की टूट फूट दूर कर शरीर को स्वस्थ बना देती है। अहंकार के विचारों को यह प्रशिक्षण मिलता है कि उसकी हस्ती स्वामी की नहीं। यदि वह प्रकृति रूपी स्वामी के लिये सेवक की भांति अपने उत्तरदायित्व के कामों को करता है तो वे उत्तमता से होते हैं। साथ ही उन कामों को करने में अनुकूल एवं प्रतिकूल दोनों स्थितियों के प्रभाव से वह बचा रहता है जिससे उसका मस्तिष्क संतुलन में रहता है। संतुलित मस्तिष्क से कर्म करने से वह पूर्व की अपेक्षा अधिक देर तक काम करने की अपने में सामर्थ्य अनुभव करता है ।

जब हम स्वयं कुछ भी नहीं करते, स्वयं कुछ सोचते भी नहीं तब हम प्रकृति के कार्य के साक्षी मात्र बन जाते हैं। चूंकि साक्षी तो कर्म का कर्त्ता नहीं होता तो फिर प्रकृति का कार्य किसके माध्यम से होता है ? यह प्रश्न उठने पर जब हम विचार करने लगते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि निश्चय ही कोई न कोई अदृश्य शक्ति हमारी बुद्धि की गति से परे होना चाहिये जो हमारे कुछ भी न करने पर स्वयं कार्य करती है और उसके आदेश से किये जाने वाली सभी शारीरिक अथवा मानसिक क्रियायें स्वास्थ्यप्रद होती हैं। साथ ही अपने स्वरूप का विवेक उत्पन्न कराती हैं जिससे यह अनुभव होता है कि हमारे मस्तिष्क के विभिन्न संस्कार यंत्रवत् कार्य करते रहते हैं, यानी अहंकार के स्मृति चिह्न सेवक के सदृश वर्तते हुए अनुभव होते हैं। सत्य ही, जैसा कि हम प्राय: नित्य ही अनुभव करते हैं कि यदि हम शरीर के किसी अंग से उसकी सामर्थ्य से अधिक काम लेना चाहें तो हमें भीतर से ऐसी प्रेरणा होती है कि हम वैसा न करें और उस प्रेरणानुसार हम उस अंग से अधिक काम नहीं ले पाते। हमें विवश होकर काम बंद करना पड़ता है मानो कि हम सेवक हों और रोकने वाला स्वामी हो। हमें स्पष्ट अनुभव होता है कि स्वामी भाव के स्मृति चिह्न अहंकार के स्मृति चिह्नों को प्रेरित कर रहे हैं। इन स्वामी भाव के स्मृति चिह्नों को भी कोई शक्ति गतिशील करती है ऐसा भी अनुभव होता है। किन्तु, उस शक्ति के रूप की हमें कोई जानकारी नहीं मालूम पड़ती। केवल उसकी सत्ता से शारीरिक एवं मानसिक क्रियायें मात्र होती हुई अनुभव में आती हैं। अस्तु, हमारे शरीर में यही सत्ता जो अतर्क है एवं मन, बुद्धि से परे है, सर्वेसर्वा कही जाती है जिसकी प्रेरणा से शरीर की समस्त क्रियाएँ विधिवत् संचालित होती रहती हैं ।

जब जब भी मुझे ऐसा विचार आता है कि कुछ समय के लिये मैं अपने सात्विक, राजसी, तामसी सभी विचारों से परे होजाऊँ तब तब ही मैं अपने शरीर को यंत्रवत् हिलते डुलते हुए तथा अनेक प्रकार की क्रियायें करते हुए अनुभव करता हूँ। कभी श्वासप्रश्वास की विविध क्रियायें सुसम्पादित होती हैं, कभी व्यायाम सदृश क्रियायें होती हैं तो कभी संगीतमय ध्वनियाँ मुख से निकलने लगती हैं जो प्रायः कुछ न कुछ विवेक जाग्रत करती हैं। उस अवधि में ऐसा अनुभव करता हूं कि समस्त विश्व एक इकाई है और मैं अपने ही रूप को सर्वत्र व्याप्त हुआ अनुभव करने लगता हूँ। इन सब क्रियाओं से मेरे अहंकार का कार्य मुझे लेशमात्र भी होता हुआ अनुभव में नहीं आता। जो कुछ भी क्रियायें हो रही हैं वे स्पष्ट रूप से मेरे शरीर में विद्यमान मेरी समझ से परे सत्ता की प्रेरणा से होती हैं। इस प्रेरक सत्ता को जो प्रत्येक शरीर के अन्दर नित्य विद्यमान रहती है और जो व्यक्ति की वास्तविकता का ज्ञान करा कर उसे सर्वांगीण विकास में सहयोग देती है मेरी समझ से दिव्य शक्ति होना चाहिये जिसे हम आध्यात्मिक ग्रन्थों में कुंडलिनी शक्ति कहते हैं।

अनुभव से यह कहा जा सकता है कि यह शक्ति किसी एक ही जगह केन्द्रित हो ऐसा नहीं है वरन् सर्वत्र व्याप्त है। ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं जिसमें व्याप्त न हो। साथ ही वह अखंड मालूम होती है। हाँ, इतना अवश्य अनुभव होता है कि इस शक्ति के प्रभाव से शरीर के विभिन्न भागों पर विभिन्न प्रकार की क्रियाऐं होती हैं। विशेषकर रीड की हड्डी के अन्दर सुषुम्ना नाड़ी से सम्पर्क होने पर इस शक्ति का प्रभाव छह स्थानों पर और भी विशेष अनुभव में आता है। गुदा और इन्द्रिय से बीच के स्थान पर जब सम्पर्क स्थापित होता है तब व्यक्ति को स्पष्ट अनुभव होता है कि कोई वस्तु किसी से प्रभावित होकर सुषुम्ना की ओर अग्रसर होने का प्रयास कर रही है। यदि ऊपर जाने में उसे रुकावट अनुभव होती है तो उस स्थान को उत्तेजित करने वाली ऐसी क्रियायें होती हैं जिनसे ऊपर की ओर जाने का मार्ग साफ हो जाता है। गुदा और इन्द्रिय के बीच के स्थान से विशेष हरकतें होना आरम्भ होती हैं। सम्भव है, इसीलिये इस स्थान का नाम मूलाधार रखा गया हो। मूलाधार से शक्ति के प्रभाव से उठा हुआ वेग इन्द्रिय से ऊपर तक जब पहुंचता है तब ऐसा अनुभव होता है कि यह स्थान ऊर्ध्व गति के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण है। क्योंकि इस स्थान पर शक्ति के प्रभाव से मस्तिष्क के गतिशील संस्कारों में स्थायित्व आने लगता है। सम्भवतः इसी दृष्टि से इस स्थान को शक्ति के निवास का वास्तविक स्थान समझा जाने लगा हो। अतएव इस स्थान का नाम स्वाधिष्ठान दिया गया है।

जब इस शक्ति का सम्पर्क रीड की अस्थि के भीतर नाभि के क्षेत्र पर होता है तो अनेक प्रकार के शब्दों की ध्वन्यात्मक तरंगें प्रवाहित होती हैं। तरंगें बहुधा लय युक्त होती हैं। साथ ही साधक को सुन्दर शांतिदायक प्रकाश का अनुभव होता है। चूँकि इस प्रकाश के लिये दीपक, विद्युत आदि वाह्य उपकरणों की आवश्यकता नहीं होती अतः यह प्रकाश मणि के प्रकाश के सदृश अनुभव होता है। सम्भवतः इसी कारण रीड की अस्थि के भीतर सुषुम्ना के इस स्थान को मणिपूर कहा गया है। जब यह शक्ति रीड की अस्थि के अन्तर्गत सुषुम्ना नाड़ी को हृदय क्षेत्र पर प्रभावित करती है तब व्यक्ति को प्रायः ऐसा अनुभव होता है कि मुख से व्यक्त हुए शब्दों की ध्वन्यात्मक तरंगें समस्त ईथर में अबाधगति से व्याप्त हो रही हैं। उसे ऐसा लगता है मानो उन तरंगों का न तो आदि है और न अन्त। सम्भव है, इसी कारण इस स्थान को अनाहत कहा जाता है। जब इस शक्ति का प्रभाव गले के नीचे गड्ढे के क्षेत्र पर सुषुम्ना में होता है तब प्रायः ठोड़ी गड्ढे के ऊपर आ लगती है। पेट पिचककर रीड से लग जाता है तथा गुदा ऊपर को उठने लगती है। ऐसी स्थिति में श्वास धीमी होने लगती है तथा अत्यन्त ही धीमी हो जाती है। मानो श्वास आ ही नहीं रही है। मस्तिष्क शून्य सा हो जाता है। बुद्धि स्थिर हो जाती है। इस स्थिति में विचारों का दौर दब जाता है और चित्त में शान्ति एवं प्रसन्नता अनुभव होने लगती है। अन्तः करण भी विकार रहित शुद्ध अनुभव होता है सम्भव है अन्तः करण की शुद्धता के कारण ही इस क्षेत्र को विशुद्ध कहा गया है। जब इस शक्ति से दोनों भृकुटियों के मध्य का भाग प्रभाव्रित होता है तो ऐसा अनुभव होता है कि इन्द्रियाँ नियन्त्रण में आ रही हैं। शनैः शनैः इन्द्रियों पर से 'मेरे पन' का अधिकार हटता जाता है और ऐसी धारणा बनती जाती है कि इन्द्रियाँ प्रकृति के अधीन हो गई हैं। सम्भव है, इसी दृष्टिकोण से इस स्थान को 'आज्ञा' कहा गया है। क्योंकि आज्ञा सार्थक तभी है जबकि इसका पालन हो। वस्तुतः इस स्थान पर शक्ति के प्रभाव से यह स्पष्ट अनुभव होता है कि इन्द्रियाँ प्रकृति के काम के लिये आज्ञाकारी बन गई हैं। जब इस शक्ति का प्रभाव माथे के मध्य में अनुभव होता है तब किसी प्रकार की वासनाएँ ही अब नहीं रही हैं ऐसा अनुभव होता है। चूँकि वासनाओं के संकल्प विकल्प मन से उठा करते हैं अतः सम्भव है, इसी भाव को व्यक्त करने के लिये इस स्थान को 'मन' कहा गया है। और जब इस शक्ति से मस्तिष्क का शीर्ष प्रभावित होता है तो विशेषकर मूल, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, मन सभी स्थानों की शक्ति का दौर शीर्ष तक होता हुआ अनुभव होता है और साधारण स्थिति में पैर के अंगूठे से शीर्ष तक शक्ति शनैः शनैः हरकत करती हुई अनुभव होती है और ऐसा

लगता है कि शक्ति का प्रभाव शनैः शनैः शीर्ष तक जा रहा है फिर शीर्ष से पैर तक उतर रहा है और फिर चढ़ रहा है। इस प्रकार शक्ति का आवागमन होता हुआ अनुभव होता है। इस स्थिति में मन इधर उधर न होते हुए एक ही लक्ष्य पर टिका रहता है जिससे मन को एकाग्र हो जाने का सहज ही अभ्यास हो जाता है ।

ध्यान रहे कि शरीर विज्ञान के अनुसार पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा पाँच कर्मेन्द्रियों के कर्म की सहायक 50 जोड़े यानि सौ नाड़ियां हैं - पचास संदेश ले जाने वाली और पचास संदेश लाने वाली। रीड की हड्डी पर इन स्थानों पर संदेश देने वाली और संदेश लाने वाली नाड़ियों के जोड़े क्रम से हैं 4+6+10+12+16+2=50 जोड़े यानि सौ नाड़ियां इस प्रकार एक इन्द्रिय के सौ सेवक हैं। यद्यपि हैं तो केवल सौ सहायक नाड़ियाँ किन्तु इनका उपयोग प्रत्येक इन्द्रिय करती है। अतः यह कहना असंगत नहीं कि प्रत्येक इन्द्रिय की सौ सौ सहायक नाड़ियाँ हैं यानी दसों इन्द्रियों की 10 गुणा 100=1000 सहायक नाड़ियाँ हैं। सम्भव है इसी दृष्टिकोण से शीर्ष स्थान को सहस्त्रार अथवा सहस्त्र दल कमल कहा गया हो। क्योंकि पाँच-दस दल वाला कमल ही शांति दायक है तो हजार दल वाला कमल तो अपार शांति देने का सूचक है। अस्तु, वैसे तो समस्त शरीर ही इस शक्ति का क्षेत्र है, किन्तु विशेष रूप से बोध देने वाले क्रियात्मक क्षेत्र रीड की हड्डी के अन्तर्गत सुषुम्ना के छह क्षेत्र हैं - मूलाधार स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत और बिशुद्ध। रीड की अस्थि के बाहर मस्तिष्क की ओर के क्षेत्र मन की एकाग्रता लाने वाले, वासनाओं से मुक्त करने वाले तथा अपूर्व शांति एवं विवेक देने वाले स्थान हैं, आज्ञा का स्थान, मन का स्थान तथा अन्य विविध स्थान और सर्वोपरि स्थान है सहस्त्रार का। वैसे तो समस्त शरीर ही इस शक्ति का क्षेत्र हैं। इस सब विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सत्ता जिसे हम कुंडलिनी शक्ति कहते हैं वह तो अदृश्य है, और उससे प्रभावित हुई समस्त इन्द्रियाँ तथा शरीर के प्रत्येक अवयव काम करते हैं । चूँकि व्यक्ति ऐसा अनुभव तभी करता है जबकि वह शक्ति की अनुभूति कर कुछ अवधि के लिये इस प्रकार अपनी बुद्धि को शिक्षण दे कि जो कुछ भी इन्द्रियाँ व्यापार करें उन सबका वही साक्षी है। साक्षी भाव में साधक को यही ध्यान रहता है कि उसे न तो कुछ करना है और न सोचना है और जो स्वतः से हो उसे रोकना नहीं। सारांश यही है कि सर्वश्रेष्ठ सत्ता जिसे हम कुंडलिनी शक्ति कहते हैं उसके स्वरूप का न तो कोई वर्णन कर सकता है न उसका अनुमान लगा सकता है। केवल उसका अस्तित्व है इसकी स्वीकृति अवश्य दे सकता है। क्रियाएँ आदि जिन नाड़ियों से होती हैं उन नाड़ियों को कुंडलिनी शक्ति कहना अज्ञान है। सभी नाड़ियाँ शरीर की

संचालन व्यवस्था में अपना-अपना पृथक् अस्तित्व रखती हैं। साथ ही सभी उपयोगी तथा महत्वपूर्ण हैं ।

प्राचीन ऋषियों की अनुभूत इसी कुंडलिनी शक्ति को सम्भव है पौराणिक काल में शेष नाग कहा गया हो। कुंडलिनी शक्ति ने शेष नाग नाम कैसे धारण कर लिया, अब इस पर किंचित् ध्यान देना आवश्यक प्रतीत होता है ।

एक व्यक्ति जब काम करते थक जाता है तब उसे अनुभव होता है कि उसमें काम करने की शक्ति का अभाव हो गया है। किन्तु वस्तुतः शक्ति कुछ न कुछ शेष अवश्य रह जाती अवश्य है जिसके आधार पर व्यक्ति जीवित रहता है। अतः इस शक्ति को प्राण की रक्षिणी कह देना असंगत नहीं । इस प्राणरक्षिणी शेष शक्ति के आधार पर ही व्यक्ति जीवित है । चूँकि पृथ्वी पर रहने वाले समस्त जीवों की आधार -भूत सत्ता यही शेष शक्ति है अतः जन साधारण की बोली में यह कहा जाने लगा कि पृथ्वी ही शेष शक्ति के आधार पर टिकी हुई है। प्राचीन काल में लोगों की वासनाएँ प्रचुर मात्रा में बढ़ी हुई नहीं थीं। जीवन निर्वाह की आवश्यकतायें भी थोड़े परिश्रम से पूर्ण हो जाती थीं। अधिकांश समय वे खाली रहते थे। अतः वे समय व्यतीत करने को साधारण साधारण सी बातों को घुमा फिरा कर कहते थे और जो उनकी पेचीदा बातों को समझकर स्पष्ट उत्तर दे देता था उसे बुद्धिमान समझते थे। सम्भव है, इस शेष शक्ति का जब ऋषियों को अनुभव हो गया हो तब इस शेष शक्ति को भी घुमा फिराकर कहा जाने लगा हो और उसका पेचीदा नाम शेष नाग पड़ गया हो। यह बात अनुभूत है कि यदि हम पानी में एक कंकर फेंके तो उपयोग में आने वाली शक्ति के आघात से पानी में गोलाकार वृत्त बन जाते हैं। ऐसे ही धूल को फूँक देकर उड़ावें तो धूल कणों का उड़ान गोलाकार वृत्तों में होगा। इससे अनुभव हुआ कि शक्ति का प्रयोग करते समय वृत्ताकार आकृतियाँ बनती हैं। तब ऐसा भी समझा जा सकता है कि शेष शक्ति को पेचीदा भाषा में गोल वर्तुलाकार लहरें कहने लगे हों। वर्तुलाकार लहरों को और भी जटिल बनाकर कहने की दृष्टि से उन गोलाकार लहरों को कुंडल कहा जाने लगा हो। शक्ति शब्द स्त्रीलिंग वाची होने से कुंडलिनी कहने लगे हों। इस प्रकार शेष शक्ति को ही शेष कुंडलिनी कहने की प्रथा हो गई हो। आगे चलकर इस शेष शक्ति को और भी जटिल बनाकर कहने की दृष्टि से ऐसा जीव ढूंढा गया हो जिसका स्वभाव गोलाकार रूप में बैठने का हो। सत्य ही, सर्प होता तो लम्बे आकार का है किन्तु उसका स्वभाव गोल होकर बैठने का है। सभी इस बात से परिचित हैं कि सपेरे लोगों के पिटारे गोल होते हैं । उनके गोल पिटारों में सर्प अपने स्वभावानुसार

अपनी गोल आकृति करके सुख से बैठा रह सकता है। इस प्रकार शेष शक्ति का प्रतीक सर्प उनकी बुद्धि में उपयुक्त ठहर गया हो और वे शेष शक्ति को शेष सर्प करने लगे हों। चूँकि शक्ति आदरणीय है एवं पूजनीय भी और सर्प जाति में नाग को पूजनीय एवं आदरणीय भी माना जाता है अतः शेष शक्ति को शेष नाग कहने में उन्हें वास्तविकता की समीपता अधिक अनुभव हुई हो। अस्तु, शेष शक्ति ही शेष नाग के नाम से आदर पाने लगी। अतः प्राचीन साहित्य में जिस कुंडलिनी शक्ति का उल्लेख है उसका ही नाम सम्भवतया शेष नाग है, कहना असंगत नहीं ।

संक्षेप में, चाहे शेष शक्ति को शेष नाग कहा जावे चाहे कुंडलिनी शक्ति बात एक ही है और विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि यह शक्ति प्रत्येक प्राणी में सदैव विद्यमान् रहती है। साथ ही यह भी सत्य है कि इसी शक्ति के आधार पर प्राणी का जीवन निर्भर है। अस्तु प्राणी के जीवन का यदि सर्वांगीण पूर्ण विकास किया जावे तो यह निर्विवाद है कि इसी शेष शक्ति के व्यापार का भली प्रकार समझना अनिवार्य है। यद्यपि यह शक्ति किस प्रकार कार्य करती है इसका संक्षिप्त विवरण पाठक पढ़ चुके हैं तथापि इस रहस्य से पूर्णतः अवगत होना अत्यन्त आवश्यक है। अतः अब इसी तथ्य पर अधिक विचार किया जाना उचित जान पड़ता है। विचारणीय है कि शक्ति के माध्यम से कर्म करने को देश, काल, परिस्थिति के अनुसार विभिन्न रीतियाँ प्रचलित हो गई हैं। किन्तु, आज की इस विषम परिस्थिति में जबकि प्रत्येक प्रथा रूढ़ि बन गई हो और वास्तविकता की ओर लोगों की दृष्टि ही न जाती हो तथा रूढ़ि ही सर्वेसर्वा हो गई हो तब यह आवश्यकता अनुभव होती है कि अनुभूत वास्तविकता को जन साधारण के सामने स्पष्ट शब्दों में तथा अत्यन्त सरल रीति से रखा जावे जिससे जो भी व्यक्ति उससे लाभ उठाना चाहे उसे पूरा पूरा अवसर मिल सके ।

शक्ति की जाग्रति तथा उसका विकास

वैसे तो ऐसा अनुभव होता है कि प्रत्येक प्राणी में शक्ति सदैव ही विद्यमान रहती है और उसका कार्य भी निरन्तर होता रहता है। अतः शक्ति को जाग्रत करने का प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि जो कार्य व्यक्ति अपने अहंकार से नहीं कर सकता उसे शक्ति अपनी रीति से स्वतः ही करती है- जैसे अन्न पाचनादि की क्रिया संपादित करना अथवा रक्त संचालन आदि की सुव्यवस्था को देखना भालना आदि। भीतर की क्रियाओं के साथ साथ शक्ति बाहर की क्रियायें भी करती रहती है जैसे- जहाँ बदन में खुजली चले वहाँ स्वतः ही हाथ का पहुँचना अथवा बात करते समय हाथों का हिलाना, सिर का इधर उधर घुमाना फिराना आदि। चूँकि व्यक्ति का ध्यान अपने अहंकार के वशीभूत होने के कारण शक्ति द्वारा संचालित क्रियाओं की ओर नहीं जाता, अतः उसे उन क्रियाओं का भान ही नहीं होता और यही संस्कार पुष्ट होता रहता है कि व्यक्ति ही सब कुछ करता कराता है। अस्तु, जाग्रत शक्ति का जाग्रत करना भ्रम मात्र है। वस्तुतः गुरु अथवा मार्गदर्शक के माध्यम से श्रद्धालु व्यक्ति को शक्ति की अनुभूति हो जाया करती है। अतः शक्ति की अनुभूति कराने को ही प्रायः शक्ति का जाग्रत होना कहा जाता है। जब तक शक्ति की अनुभूति व्यक्ति को है ही नहीं तबतक उसके विकास की ओर व्यक्ति का ध्यान ही न जाना स्वाभाविक है। अतः शक्ति के विकास के लिये सर्वप्रथम शक्ति की अनुभूति होना अनिवार्य है।

प्राचीन परम्परागत शक्ति की अनुभूति कराने की विविध प्रणालियाँ प्रचलित हैं जिनमें प्रायः व्यक्ति को हठ योग का ही आश्रय लेना पड़ता है यानी व्यक्ति को स्वतः ही गुरु के आदेशानुसार क्रियायें करनी होती हैं। इस प्रकार व्यक्ति को महान श्रम करने के उपरान्त ही शक्ति की अनुभूति हो पाती है। अधिकांश में तो लोग अनुभूति को कष्टदायक समझकर शक्ति की अनुभूति की ओर ध्यान ही नहीं देते। साथ ही लोगों में किसी प्रकार ऐसी धारणा घर कर गई है कि शक्ति की अनुभूति मोक्ष प्राप्ति के लिये है अथवा परमात्मतत्त्व की प्राप्ति के लिये है। चूँकि दैनिक जीवन में परमात्मा की आवश्यकता प्रत्यक्ष रूप में तो पड़ती नहीं है अतः जन साधारण जो अपनी प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में संलग्न रहता है उसे परमात्मतत्त्व या मोक्ष प्राप्ति की विशेष अभिलाषा ही नहीं होती। हाँ, उसे अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति में जब कठिनाई आती है तब वह अवश्य साधु सन्तों की ओर जाने को प्रवृत्त होता है और उसके मनोरथों की

सिद्धि को जो भी वे कह देत हैं उसे ही करने में उसे संतोष हो जाता है भले ही उसका मनोरथ सिद्ध हो अथवा नहीं। संभव है, इसी दृष्टि से अनुष्ठान, यज्ञ करना, मंत्र जपना उपवास रखना, देवी देवताओं के प्रति मनोतियाँ करना आदि का जन्म हुआ हो। हाँ, जिन महापुरुषों को महान् कष्ट से शक्ति की अनुभूति हुई है वे प्रायः अपनी ही अनुभूत कष्ट दायक प्रणाली का ही प्रचार करते हैं। क्योंकि उन्हें अन्य सुगम रीति का अनुभव ही नहीं होता। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति 30 वर्ष की आयु में गृह के समस्त सुखों को त्यागकर किसी प्रसिद्ध सन्त की शरण में आता है और उसका अनुयायी हो जाता है। वे उसमें प्रभुनिष्ठा जाग्रत करने के लिये उसे सर्वप्रथम मंत्र देते हैं और अधिक से अधिक समय तक उसे जपने का आदेश देते हैं। कुछ वर्षों के बाद उसे आसन, प्राणायाम तथा अन्य हठ योग की क्रियायें करने को कहते हैं। साधक ने सच्चाई से जप किया और आसन, प्राणायामादि सभी आदेशानुसार किये। इस क्रम से वह तीस वर्ष तक लगा रहा। अब उसकी आयु साठ वर्ष की हो गई। किन्तु उसे न तो कोई अनुभूति हो पायी और न उसे कुछ सिद्धि प्राप्त हुई। संयोग से उसके मार्गदर्शक गुरुजी का भी देहावसान हो गया जिससे यथेष्ट मार्गदर्शन मिलने में भी असुविधा हो गई। इस स्थिति से विचारा साधक अत्यन्त व्याकुल हो गया। उसकी स्थिति किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गई। अब वह कहीं का न रहा। यदि घर लौटता है तो लोगों की दृष्टि में वह पतित दिखेगा। साथ ही परिवार के लोगों की दृष्टि में उसका उचित सम्मान नहीं होगा। और यदि साधना में ही नित्य नियमानुसार बैठता जावे तो उसे शांति अनुभव नहीं होती। सचमुच, उसकी स्थिति धोबी के कुत्ते के सदृश हो गई, न घर का रहा, न घाट का। अन्ततोगत्वा साधक यही निश्चय करता है कि अब घर लौटना तो उचित नहीं। रहना तो इसी स्थिति में है। अब सत्यता से प्रभु की शरणागति में रहना श्रेयस्कर है। ऐसा दृढ़ निश्चय कर जब वह उपासना में बैठा तो प्रभु से कातर स्वर में प्रार्थना करने लगता है कि हे प्रभु अब मैं आपकी शरण में हूँ। मेरा कोई अन्य ठिकाना नहीं है। मुझे अपनी शरण में ले लो। अब मुझे कुछ नहीं करना है। आप जैसी प्रेरणा देंगे उसी के अनुसार मैं चलूँगा। इस प्रकार जैसे ही वह शुद्ध अन्तः करण से प्रभु की शरण हुआ कि प्रभु अनुग्रह से उसे अपने अन्दर शक्ति द्वारा की जाने वाली क्रियाओं का अनुभव होने लगा। उसे अपूर्व शांति अनुभव होने लगी। उसका जीवन कृत्कृत्य हो गया। अब उसे प्रत्यक्ष अनुभव होने लगा कि शक्ति की सहायता से उसकी साधना उत्तम ढंग से होने लगी और उसका प्रभाव उसके जीवन पर भी पड़ने लगा। उसे अपने अन्दर ही प्रभु सत्ता का प्रकाश दिखने लगा और उसकी ख्याति उत्तरोत्तर बढ़ने लगी।

अब शक्ति को अनुभव करने की उत्कट अभिलाषा लिये एक व्यक्ति उनकी शरण में जाता है और उनसे शक्ति की अनुभूति कराने की प्रार्थना करता है। इस पर वे महात्माजी उस नवीन बनने वाले साधक शिष्य से कहते हैं "भैया, तुम बड़े अज्ञानी हो। मुझे तो शक्ति के अनुभव करने में 30 वर्ष लगे और तुम एक दिन में ही शक्ति का अनुभव करना चाहते हो। पहले कुछ वर्ष जप करो। कुछ वर्षों तक आसन, प्राणायाम आदि करो तब कहीं तुम इस योग्य होगे कि शक्ति का अनुभव कर सको।" सत्य ही, उनका कहना ठीक है, क्योंकि उन्हें तीस वर्ष उपासना के बाद ही तो शक्ति की अनुभूति हुई थी। उन्हें यह तो मालूम ही न था कि उनकी तीस वर्ष की उपासना में कर्त्तापन था। सेवकवत् वे सत्ता की शरण में थे ही नहीं। जिस क्षण में वे अत्यन्त श्रद्धा एवं विश्वास से प्रभु सत्ता की शरण गये तब ही उन्हें शक्ति की अनुभूति हुई। इस प्रकार जिन-जिन सन्त महात्माओं ने उपरोक्त विधि से शक्ति की अनुभूति की है वे अपनी अपनी ही विधि साधकों को बताया करते हैं। उनकी दृष्टि में वे ठीक हैं। किन्तु सत्य तो यह है कि जिस दिन ही वे गुरुजी के पास आये थे उसी दिन उन्हें शक्ति की अनुभूति कराई जा सकती थी। किन्तु ऐसा तभी सम्भव था जबकि उस साधक के गुरु महाराज ने स्वयं भी शक्ति की अनुभूति शरणागत होकर तत्काल ही अपने शक्ति सम्पन्न गुरुजी से प्राप्त की होती ।

अस्तु, विवेचन से स्पष्ट है कि शक्ति की अनुभूति के लिये हमें विविध उपासनाओं की आवश्यकता नहीं। व्यक्ति को सच्चाई से अपनी शक्ति की शरण में जाना पर्याप्त है। किन्तु शरण में जाकर शक्ति का अनुभव करने के उपरान्त सदैव शरण भाव से ही दैनिक जीवन व्यतीत करना ही साधक का लक्ष्य होना चाहिये। शरण में रहने से तात्पर्य केवल इतना ही है कि व्यक्ति साधना की अवधि में तो स्वयं को पूर्ण शरणागत समझे तथा साधना के उपरान्त दैनिक जीवन के काम अहंकार से ही करे, किन्तु उसके मस्तिष्क में यह तथ्य भली प्रकार स्थिर हो जाना चाहिये कि वह शक्ति का सेवक है और उसी के लिये उसके समस्त कर्म हैं। इस प्रकार ऊपर से तो बोल चाल आदि में तो अहंकार ही बर्तता दिखेगा यानी "मैं पन" का प्रयोग किया जावेगा, किन्तु साधक मन में यही अनुभव करेगा कि शक्ति के लिये ही उससे कर्म किये जा रहे हैं। वह तो केवल निमित्त मात्र है। इस पद्धति के आचरण का यह प्रभाव होगा कि व्यक्ति का अहंकार संतुलित मस्तिष्क से दिनचर्या पालन करने लगेगा, जिससे क्रम-क्रम से अहंकार की योग्यता का स्तर वृद्धि करने लगेगा। सत्य ही, जब व्यक्ति अपने निर्धारित उत्तरदायित्व का निर्वाह भली भाँति करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है तब उसको स्वभावतः प्रेरणा होती है कि उसके

उत्तरदायित्व की वृद्धि होनी चाहिये। फलतः उसकी दृष्टि अपने समीपस्थ दीन दुखी लोगों पर पड़ती है और वह अपनी सामर्थ्यानुसार उसकी सहायता करने लगता है, जिससे उसकी लोकप्रियता में वृद्धि होने लगती है। साथ ही उसे लोगों के कष्ट निवारणार्थ जनता धन धान्य आदि भी मुक्त हस्त से देने लगती है। शनैः शनैः जहाँ व्यक्ति की ख्याति बढ़ती जाती है तथा असहाय लोगों को सहायतार्थ धन आदि की उपलब्धि भी आवश्यकतानुसार होने लगती है वहाँ उसका कर्मक्षेत्र भी विस्तृत होने लगता है। कालान्तर में उस व्यक्ति की परोपकार वृत्ति इतनी बढ़ जाती है कि उसे अपनी परोपकार वृत्ति ऐसी लगने लगती है मानो कि उसी की इस ढंग की यह स्वार्थ वृत्ति है। अब उसे स्वदेश के लोगों में अथवा विदेश के लोगों में कोई अन्तर नहीं मालूम होता है। निःसंदेह वह प्राणी मात्र से ही प्रेम करने लगता है। ऐसे व्यक्ति की गणना प्रायः महापुरुषों में होने लगती है। महापुरुषों को ही प्रायः हम अवतारी अथवा भगवान की उपाधि से सुशोभित कर देते हैं। इस प्रकार संतुलित मस्तिष्क से कर्त्तव्य पालन तो उत्तमता से होता ही है, किन्तु साथ ही मस्तिष्क को दो प्रकार का शिक्षण मिलने लगता है। एक तो यह कि व्यक्ति की आदरणीय शक्ति ही व्यक्ति से कार्य करा रही है और दूसरा यह कि जिस प्रकार शक्ति उसके अन्दर है और उससे कार्य करवा रही है उसी प्रकार शक्ति प्रत्येक मानव के अन्दर है और वही प्रत्येक मानव से कार्य करवा रही है। चूँकि शक्ति अखंड है, अविभाजित है अतः सभी मानव उसी के सेवक तुल्य हैं, न कोई घटिया है न बढ़िया। इस प्रकार व्यक्ति समत्व बुद्धि से कार्य करता है। चूँकि समत्व बुद्धि में रागद्वेष होता ही नहीं है अतः व्यक्ति का जीवन राग-द्वेष रहित हो जाता है यानी उसका जीवन आनन्दमय हो जाता है। शक्ति की अनुभूति होने के दिन से ही साधक के प्रमुख रूप से दो ही धर्म होते हैं। एक तो दैनिक ही साधना में बैठना और दूसरा साधना के उपरान्त शेष समय में जो कुछ भी कार्य किया जावे वह शक्ति के लिये ही किया जावे यानी साधक निमित्त मात्र बन कर कार्य करे ।

साधना में बैठने की अवधि में साधक यही स्मरण रखता है कि उसे अपनी ओर से कुछ भी नहीं करना है और जो कुछ हो उसे रोकना भी नहीं है। उसकी स्थिति केवल साक्षी के सदृश रहती है। इस पद्धति से साधना की अवधि में साधक के मस्तिष्क में ऐसे स्मृति चिह्न निर्माण होंगे कि प्रकृति ही सब कार्य करती है और साधक तो केवल साक्षी है, कर्त्ता नहीं। साधक की इस प्रकार की मनोवृत्ति हो जाने से साधक की प्रकृति को स्वतंत्र रूप से साधक के शरीर को स्वस्थ एवं मन और बुद्धि को शुद्ध बनाने का पूर्ण अवसर मिलता है। शरीर को स्वस्थ बनाने की दृष्टि से प्रकृति विविध प्रकार की क्रियायें

साधक के शरीर से कराती है। जिस साधक के शरीर में जो भी विकार होते हैं सर्वप्रथम वह उन्हें निकालने का प्रयास करती है। कभी-कभी तो वह विकारों को उभारती है और फिर उन्हें जड़ सहित उखाड़ देती है। विकारों को दूर करने के लिए शक्ति अनेक साधनों को प्रयोग में लाती है जैसे सिर हिलवाना, हाथ पैरों को फैलवाना, धड़ को आगे को अथवा पीछे को झुकवाना, निद्रा के वशीभूत कर देना, उबासी दिलवाना, छींकें दिलाना, डकार लिवाना, हिचकियाँ चलवाना, विभिन्न प्रकार से शरीर को मुड़वाना, अंगड़ाई आदि दिलवाना, सिर को धरती पर पटकवाना, बदन को थप्पड़ मार मार कर सजीव बनाना, विविध मुद्राऐं लगवाना, दंड बैठक लगवाना, आसनों को विभिन्न प्रकार से लगवाना, विभिन्न प्रकार के प्राणायाम करवाना, मुख से लार बहाना, नाक से पानी टपकवाना, बदन को गर्माई देना, कभी शीतल करके ठंड लगवाना, कंप उत्पन्न कराना, सुबकियाँ दिलाना, रुलाना, हँसाना, मुस्कराहट प्रकट करवाना, छलाँगें भरवाना, खड़े होकर चक्कर कटवाना, दौड़वाना, भगवाना, आलों आदि में बिठला देना अथवा टाँड़ों को या छत के तीरों को उचककर पकड़वाना, दीवाल के सहारे खड़ा करवा देना और खड़े-खड़े ही पैरों को स्पर्श करवाना, पंजों के बल खड़ा करवा देना, आगे पीछे को नवने की क्रियायें करवाना, जीभ को बाहर निकलवाकर पीछे को मोड़ कर काग तक पहुँचवाना, खारा या मीठा मधु सा रस चखवाना, मुख से पानी के कुल्ले बार-बार भरवाना, शरीर को पसीने से तरबतर करवा देना, कभी कुछ भी क्रियायें न करवाना केवल सुखासन आदि से शान्त बिठाये रखना, कभी-कभी सुरताल से विविध आलाप निकलवाना आदि। इसी प्रकार मन व बुद्धि को उचित रीति से बर्तने के लिये विविध संकल्पों को खड़ा करवाना और उन्हें कल्पना में ही साकार हुए दिखा देना। बुद्धि को विविध ज्ञानों से परिचित करवाने के लिये जिज्ञासायें उत्पन्न करवाना और फिर उनका समाधान करवा देना। कभी-कभी पद्य रचनाई कराके जीवन के जटिल प्रश्नों को सुगमता से सुमधुर ढंग से सुलझवा देना। संक्षेप में शक्ति अपने मौलिक एवं अनूठे ढंग से साधक को प्रसन्न रखते हुए उसके शरीर को स्वस्थ बनाती है एवं उचित संकल्पों को उठवाकर उनके निर्णय विवेकपूर्वक बुद्धि से करवाती है। इस प्रकार साधक की मनोवृत्ति को उत्तरोत्तर प्रगति की ओर प्रवृत्त कराती है ।

ध्यान रहे कि इन क्रियाओं का साधना में कोई विधिवत् क्रम नहीं है। साधक के स्तर के अनुसार बौद्धिक क्रियायें तथा साधक के शरीर की स्थिति के अनुसार शारीरिक क्रियायें होती हैं पर होती हैं शक्ति की रुचि के अनुसार ही। किसी साधक को जिसने

कभी भी उपासना, प्राणायाम किये ही नहीं हैं उसे साधना में बैठते ही बज्रोली क्रिया जैसी कोई कठिन से कठिन क्रिया भी हो सकती है, शीर्षासन आदि लग सकते हैं, भस्त्रिका प्राणायाम आदि जैसे प्राणायाम भी हो सकते हैं । और यह भी सम्भव है कि जो साधक साधना लेने से पूर्व नित्य ही आसन, प्राणायाम आदि का अभ्यास करता आया हो उस साधक को वे आसन साधना में लगें ही नहीं। यह भी हो सकता है कि प्रारम्भ में साधक की आँखें ही बन्द रहें, शरीर लेटा रहे किन्तु हाथ, पाँव की विशेष हरकतें कुछ भी न हों। विवेचन से स्पष्ट है कि साधक के विकास का उत्तरदायित्व सब शक्ति के आधीन होता है। वह चैतन्यशक्ति है। साधक के हित में जो भी क्रिया उचित उसे लगती है वह उससे करवाती है और साधक के स्तर के अनुसार क्रियाओं में अन्तर लाती है। अस्तु, साधक का धर्म यही प्रतीत होता है कि साधना के समय पूर्ण रूप से वह अपने को शक्ति को समर्पित किये हुये रहे। अपनी कुछ भी न चलाये, न तो प्रगति के लिये उतावला बने और न धीमी गति पर धैर्य को छोड़े। जो हो सो होने दे। चूँकि विचारों को विचार ही दबाते हैं, अतः कर्तापन से आने वाले सुख-दुःख के विचार जो साधक को विचलित कर देते हैं उन्हें कर्तापन से रहित विचार ही निश्चय ही दबा सकते हैं। साधना की अवधि में प्रकृति ही कर्म की कर्तृ है यह विचारधारा साधक की होती है। अतः ऐसे ही स्मृति चिह्न साधक के मस्तिष्क में बनना चाहिये और उन्हें पुष्ट होना चाहिये चाहे क्रियायें कुछ हों या नहीं। अस्तु, शान्तिमय जीवन-यापन की दृष्टि से साधना से नित्य ही साधक को बैठना अनिवार्य समझना चाहिये ताकि 'प्रकृति कर्म की कर्ता है' ये संस्कार प्रचुर मात्रा में साधक के मस्तिष्क में स्थान बनालें, जिनके बल पर ही साधक अधिक से अधिक समय तक मस्तिष्क को संतुलन में रख सकेगा ।

जब साधक को प्रकृति इस योग्य बना देती है कि वह सम्पर्क में आने वाले श्रद्धालु साधकों को शक्ति की अनुभूति करा सकता है तब ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है कि शक्ति शरीर के समस्त अवयवों में निरन्तर भ्रमण करती रहती है। विशेषकर रीड की हड्डी के सभी प्रमुख स्थानों में भृकुटि, मस्तक तथा मस्तिष्क के शिखर पर शक्ति का आवागमन होता रहता है। इतना ही नहीं वरन् साधक के ध्यान को शक्ति प्रेरित करती है कि वह पैर के अँगूठे की ओर अपनी चित्त वृत्ति को ले जावे। साधक का ध्यान अँगूठे पर जाते ही शक्ति का स्पन्दन उसे अँगूठे में अनुभव होने लगता है और क्रम-क्रम से शक्ति की गति पिंडली, जांघ, गुदा के ऊपरी भाग पर अनुभव होती है, फिर इन्द्रिय के ऊपर की ओर, फिर नाभि पर, तब हृदय पर, इसके उपरान्त गर्दन के गड्ढे पर, भृकुटि के मध्य

भाग पर तदुपरान्त माथे के बीच में, वहाँ से मस्तक पर और अन्त में शिखर तक शक्ति का स्पन्दन बढ़ता हुआ अनुभव होता है। फिर शिखर पर कुछ अवधि तक शक्ति ठहरी हुई सी अनुभव होती है। फिर एकाएक आँख खुल जाती है, वेग कम हो जाता है और अत्यन्त प्रसन्न चित्त से दैनिक दिनचर्या में साधक को प्रवृत्त होने की प्रेरणा होती है। शक्ति के शिखर तक पहुंचने का उपरोक्त मार्ग ही हो, ऐसा नहीं है। वह आवश्यकतानुसार मस्तिष्क की किसी भी दिशा से शिखर तक पहुँच सकती है। सत्य तो यह है कि शक्ति के शिखर पर आरोहण करने के मार्ग अनेक हैं। उसकी शक्ति की आवश्यकतानुसार जिस मार्ग से जाने की रुचि होती है वह उसी मार्ग को अपना लेती है। सचमुच, शक्ति का बँधा हुआ कोई मार्ग नहीं मालूम होता। जिधर से ही वह जाना चाहे जा सकती है। किन्तु शक्ति का आवागमन सदैव साधक के हित में होता है। वह निरन्तर उन्हीं कार्यों में लगी रहती है जिनसे साधक की उत्तरोत्तर प्रगति होती रहे ।

इस प्रकार शक्ति के माध्यम से व्यक्ति में वैसी क्रियायें स्वतः ही आने लगती हैं जिसमें उसका अहंकार उचित रीति से कर्तव्य कर्मों में प्रवृत्त होने लगे। इस प्रकार व्यक्ति के अहंकार को कर्म करने की योग्यता आ जाती है और उत्तरोत्तर उसकी योग्यता में विकास होता रहता है। अहंकार को योग्यतानुसार जिन-जिन स्तरों में से निकलना पड़ता है उन-उन स्तरों को व्यक्ति के विकास के स्तर कहते हैं। किन्तु प्रायः कहा यही जाता है कि साधना की शक्ति का विकास होता है। यदि साधक सचमुच शक्ति का विकास स्वयं की सामर्थ्य से कर सकता है तो उसे शक्ति से भी अधिक सामर्थ्यवाला होना चाहिये। अस्तु, निःसन्देह शक्ति ही साधक का विकास करती है, यह ध्रुव सत्य है। विचारणीय है कि साधक के समस्त कर्म करने का एक मात्र माध्यम उसका अहंकार यानी 'मैं पन' है। अतः अहंकार को ही ऐसी क्षमता आ जाती है जिससे कर्म करने में कुशलता आ जाती है यानी उससे कर्तव्य पालन के समस्त कार्य इस प्रकार सम्पन्न होते रहते हैं कि कर्मों में उसकी आसक्ति भी नहीं होती और वह उन्हें उत्तम रीति से कर भी लेता है। स्पष्ट है कि शक्ति के विकास से तात्पर्य वस्तुतः साधक के अहंकार के विकास से ही है। अहंकार के विकास को शक्ति का विकास समझना केवल भ्रम मात्र है ।

कुंडलिनी शक्ति की ओर आकर्षण

मैं दैनिक प्रातः सायं उपासना में प्राणायाम, गायत्री जप तथा आसन क्रिया करता था। मेरी धारणा ऐसी थी कि इस साधना से परिपक्व अवस्था में पहुँचने पर कुंडलिनी शक्ति जाग्रत हो जावेगी और मैं जीवनमुक्ति स्थिति उपलब्ध कर सकूँगा । श्री चोखेलाल जी सारस्वत् सन् 1947 में शिवपुरी में सदर कानूनगो के पद पर काम करते थे उनके ज्येष्ठ चिरंजीव श्री ओमप्रकाश जी सारस्वत् मेरी संरक्षता में तथा मेरे छोटे भाई स्वर्गीय देवीलाल जी की संचालन व्यवस्था में आश्रम पद्धति पर चलने वाले श्री भारतीय विद्यालय में अध्ययन करते थे। संयोग से श्री चोखेलाल जी के गुरुजी श्री 1008 स्वामी विष्णुतीर्थ जी पधारे और वे उनके निवास स्थान पर ही ठहरे थे। श्री चोखेलाल जी उन्हे आश्रम दिखलाने ले आये। तत्त्वदर्शी होते हुये भी उनके सरल स्वभाव से मैं बहुत अधिक प्रभावित हुआ। समय पाकर श्री चोखेलाल जी ने मुझसे कहा ''महात्मा जी, आप जिस पद्धति से उपासना करते हैं उससे परमात्मसत्ता की अनुभूति में बहुत अधिक समय लगेगा। साथ ही लक्ष्य प्राप्त हो भी सकेगा या नहीं यह भी विश्वासपूर्वक नहीं कहा जा सकता। हाँ, गुरु महाराज आये हुये हैं ही। आपसे वे परिचित हो ही गये हैं। यहाँ से अब वे ग्वालियर जा रहे हैं। वहाँ अन्य साधक भी एकत्रित होंगे। यदि आप भी ग्वालियर आ जावें तो आपको तुरन्त ही अनुभूति हो जावेगी । मैं भी गुरुजी के साथ ग्वालियर जा रहा हूँ।''

स्वामी जी के सरल जीवन से मैं प्रभावित हो ही गया था। अतः मैं स्वामीजी से दीक्षा लेने ग्वालियर गया। जिस समय मैं स्वामी जी से मिलने पहुँचा उस समय वे कैथ वाली गली में एक मकान में ठहरे हुये थे। वे साधकों के मध्य एक कक्ष में आँखे बन्द किये हुये साधन अवस्था में विराजमान थे। उनके चेहरे की प्रायः समस्त नसें तनाव में फूली हुई थीं। श्री स्वामी जी के योग के गुरुजी श्री योगानन्द जी महाराज साधकों से वार्त्तालाप करने में तल्लीन थे। बड़े-बड़े प्रतिष्ठित व्यक्ति आ जा रहे थे। फलों से लदी टोकरियाँ भेंट में आ रही थीं। वातावरण में ठाट बाट अनुभव होता था। मैं स्वभाव से सादगी का पुजारी रहा हूँ। वैभवपूर्ण वातावरण से मेरा चित्त क्षुब्ध हो गया। अशान्ति अनुभव होने लगी। श्री चोखेलाल जी तो वहाँ थे ही। मेरे एक मित्र श्री नारायण दत्त रावल जी (वर्तमान में स्वामी नारायण देव तीर्थ, देवास) भी साधकों में थे। उनसे मैंने वस्तुस्थिति को जानने की चेष्टा की। तब मुझे विदित हुआ कि श्री योगानन्द जी महाराज सिद्ध योगी हैं, महान् तपस्वी हैं। कई वर्ष हिमालय के बर्फीले भूमि भाग में रह चुके हैं।

ये संसार से विरक्त हैं। बाहरी ठाटवाट तो इनकी लीलायें मात्र हैं। मैं राष्ट्र के रचनात्मक वातावरण में पला था। इस कारण मुझे वैभवपूर्ण वातावरण रुचिकर न लगा। मुझे ऐसा लग रहा था कि कहाँ हम साधुओं के चक्कर में आ गये। दैनिक जप, पाठ आदि की दिनचर्या जैसी मेरी विद्यालय में चलती थी वह भी वहाँ न चल सकी। निराश होकर मुझे शिवपुरी वापिस जाने की प्रबल इच्छा हुई और मैंने स्वामी जी के पास पहुँचकर अपनी स्थिति व्यक्त कर दी। श्री स्वामी जी ने भी रूखे भाव से मुझसे कहा, ''मैंने तुम्हारे बारे में अपने गुरुजी से कह दिया है और उन्होंने तुम्हें तथा एक और सज्जन जो दिल्ली से दीक्षा लेने आये हैं उन्हें भी साथ ही साथ दीक्षा देना स्वीकार कर लिया है, अतः यदि तुम वापिस जाना चाहते हो तो उनसे कहकर चले जाना। मेरे वापिस जाने की चर्चा वहाँ उपस्थित सभी साधकों में फैल गई और प्रायः उन सबने ही मुझे अपना विचार बदल देने तथा इस स्वर्ण अवसर को हाथ से न जाने देने का आग्रह किया। विशेषकर दिल्ली वाले सज्जन ने मुझ पृथक ले जाकर समझाया कि यदि तुम दीक्षा नहीं लेते हो तो बड़े गुरुजी सम्भव है मुझे भी दीक्षा न दें। दीक्षा देने वाले गुरुजी बड़ी कठिनाई से मिलते हैं। तुम तो थोड़ी ही दूर से आये हो, मैं तो कितनी दूर दिल्ली से आया हूँ। उनके प्रेम पूर्ण व्यवहार से मैंने अपनी बात स्पष्ट कह दी कि दीक्षा लेने वाले साधक को गुरु महाराज से दीक्षा लेने से पूर्व शरणागत होना आवश्यक है। शरणागत तन, मन, धन सबसे होता है। उसे पूर्ण रूपेण अपने आपको गुरुजी के अर्पण करना होता है। मैं बहुत सोचता हूं कि क्या मैं पूरी तौर से बड़े गुरुजी की शरण जा सकता हूँ तो मैं स्पष्ट अनुभव करता हूँ कि मैं नहीं जा सकता क्योंकि कोई भी व्यक्ति तन, मन, धन से अपना सर्वस्व किसी को अर्पण नहीं कर सकता। और मुझे तो स्पष्ट अनुभव होता है कि बड़े गुरुजी की विचारधारा से मैं पूर्णतः सहमत नहीं हूं। अब यदि मैं शरण जाने की बात कहता हूँ तो अपने को धोखा देता हूँ। मेरी बात सुनकर दिल्ली वाले सज्जन ने मुझसे कहा ''श्रीमान् जी, आप बहुत भोले हैं, कह देने मात्र से क्या कोई शरण हो गया अपने को मानेगा। यह तो प्रथा है। हाँ, गुरुजी के प्रति श्रद्धा होना तो चाहिये। जो हमें शक्ति की अनुभूति करादे उसके प्रति श्रद्धा तो स्वतः ही होगी।'' किन्तु मुझे तो तन, मन, धन अर्पण करने का यही अर्थ ठीक लगता था कि अर्पण के बाद उसके तन का गुरुजी ही उपयोग करेंगे, उसका धन गुरुजी का हो जावेगा, वह उनकी सम्मति से ही उसका उपयोग करेगा और मन भी गुरुजी का होगा। वह अपने को अर्पण करने के बाद स्वतः से विचार करने का भी अधिकारी नहीं रहेगा। अन्त में उन सज्जन ने मुझे व्यवहार कुशल न समझकर अल्हड़ समझा और फिर आगे बात न की।

मैं किंकर्तव्यविमूढ़ स्थिति में हो गया था। मैं आया था छोटे गुरुजी के पास। मुझे बड़े गुरुजी के सम्बन्ध में कुछ भी जानकारी नहीं थी और न मुझे मालूम था कि स्वामी जी (छोटे गुरुजी) बड़े गुरूजी से दीक्षा दिलायेंगे। यद्यपि यह छोटे गुरुजी की महानता थी कि बड़े गुरुजी की उपस्थिति में उन्होंने दीक्षा न देकर उनसे ही हमें दीक्षा देने का निवेदन कर दिया था। ऐसी परिस्थिति में श्री स्वामीजी से मैं अधिक न बोल सका। केवल उनसे वापिस जाने की आज्ञा लेने गया। उन्होंने भोले स्वभाव से कहा 'अच्छा, बड़े गुरुजी से मिलकर चले जाना' बड़े गुरुजी के पास जाने में मुझे डर भी लगता था कि कहीं वे कुछ और न कह बैठें। अन्त में कड़ा बनकर मैं उनके पास गया और उन्हें प्रणाम करके नतमस्तक बैठ गया। बड़े गुरुजी तक मेरे विचारों की चर्चा पहुंच चुकी थी। उन्होंने मुझे देखते ही पहले फटकारते हुए कहा कि संसार की व्यवस्थाओं में ही फँसे रहना चाहते हो। इस मुक्ति के अवसर को क्यों खो रहे हो? मैंने कुछ उत्तर नहीं दिया। तब उन्होंने पास में रखे एक काले रंग के बड़े ट्रंक में से एक त्राटक का चार्ट निकाला और मुझे दिखाते हुये कहा, देखो मैं यह करता हूँ, जिससे बड़े से बड़े लोग खिंचे चले आते हैं। राजा महाराजा भी आकर्षित होकर मूल्यवान भेंटें अर्पण करते हैं।'' मैं चुप ही बैठा रहा किन्तु मेरे मन में और उथल पुथल मचने लगी कि अरे, यहाँ तो वशीकरण विद्या की प्रमुखता है, शक्ति का महत्व नहीं दिखाया जा रहा है। त्राटक, मेसमिरेजम, हिप्नोटिज्म आदि के प्रति मुझे पहले से ही अरुचि थी। अतः मुझे वहाँ अधिक रहना बिल्कुल भी ठीक न लगा। बड़े गुरुजी फिर प्रेमपूर्वक बोले और उन्होंने अपने लिखी हुई 'महायोग विज्ञान' पुस्तक को पढ़ने को कहा और जब मुझे इच्छा हो तब आने के लिये कहा। मैंने उन्हें नम्रता से प्रणाम किया और मैं जाने को उठा। जब मैं जाने लगा तो बड़े गुरुजी ने मुस्कुराते हुये कहा, 'भाई, जिसकी शक्ति जाग्रत है, उसे शक्ति जगवाने की आवश्यकता भी क्या है?' मुझे तो वहां से पिंड छुड़ाने की पड़ी थी। मैं उनके मार्मिक शब्दों पर ध्यान ही न दे पाया। ऊपर से नीचे उतर कर जब मैं सड़क पर आया तो चित्त कुछ हल्का हुआ।

मैं सीधा अपने छोटे भाई भगवानलाल के घर पर लाला के बाजार गया। वहाँ पहुँचकर ही मैंने अपना दैनिक नित्यकर्म किया। मुझे यह अनुभव कर महान आश्चर्य हुआ कि एक गृहस्थ के घर में तो जप, संध्या पाठ आदि करने में उत्साह आया किन्तु साधकों के मध्य मुझे बड़ी व्याकुलता हुई। जप आदि में मन ही नहीं लगा। किन्तु श्री स्वामीजी की मुखाकृति से जबकि वे साधकों के मध्य ध्यानावस्था में बैठे हुये थे स्पष्ट अनुभव होता था कि स्वामीजी के अन्दर कोई दिव्य शक्ति कार्य कर रही है अन्यथा

उनकी प्रभावित करने वाली वैसी शान्तिमय आकृति ध्यानावस्था में नहीं होती। साथ ही उनके मुख की फूली हुई नसें व्यक्त करती थीं कि इन नसों में वायु का प्रभाव अधिक है। शक्ति वेगवान हो रही है । इस दृश्य को देखकर मुझे ऐसा लगा कि स्वामी जी अवश्य शक्ति सम्पन्न हैं और उनके श्री बड़े गुरुजी को भी शक्ति सम्पन्न होना चाहिये। स्वामीजी के आचरण से भी स्पष्ट होता था कि उनमे सात्विक संस्कारों का आधिक्य है, फलतः उनका जीवन अनुकरणीय एवं सरल हैं। स्वामीजी अनुभवी हैं। उनका कहना ठीक हो सकता है कि श्री बड़े गुरुजी की बाहरी जीवनलीला बच्चों जैसी है, वस्तुतः हैं वे महान् योगी। मेरी बुद्धि इन रहस्यमयी जीवनों से सर्वथा अनभिज्ञ थी। अतः श्री बड़े गुरुजी के सम्बन्ध मे मेरी विचारधारा अपरिपक्व हो सकती है। अस्तु, मेरी श्रद्धा श्री बड़े गुरुजी के प्रति शक्ति सम्पन्न योगी की दृष्टि से बनी ही रही क्योंकि यदि बड़े गुरुजी शक्ति सम्पन्न न होते तो श्री स्वामीजी में शक्ति संचार कैसे कर सकते थे ? इस प्रकार मेरे विचारों में संघर्ष चलने लगा कि कहीं मैंने दीक्षा न लेते हुये वापिस आ जाने में बड़ी भूल तो नहीं कर दी। किन्तु, मेरी इस विचार धारा ने मुझे संतोष दिया कि मेरी प्रकृति इस प्रकार की परम्परा से भिन्न है। मुझे मेरी प्रकृति के अनुसार ही परम्परा चाहिये। सम्भव है इस घटना से मुझे और भी अधिक बल मिले और कालान्तर में मुझे भी शक्ति का अनुभव हो जावे।

इस प्रकार चिन्तन में डूबे हुए एकाएक मेरा ध्यान श्री स्वामीजी की देवात्मशक्ति की अंग्रेजी में टाइप की हुई प्रति पर गया जिसे उन्होंने कृपावन्त होकर मुझे पढ़ने को दी थी। सौभाग्य से मैंने विचारों के चल रहे अर्न्तद्वन्द्ध में उस प्रति को पूरा पढ़ लिया था। उस समय तो मैं देवात्मशक्ति के विषय को भली भांति समझ नहीं पाया पर देवात्मशक्ति जाग्रत कैसे होती है इस प्रकरण को मैंने पूरा पढ़ लिया था और ठीक-ठीक समझने का भी प्रयास किया। उसमें लिखा था 'देवात्मशक्ति अथवा कुंडलिनी शक्ति तीन प्रकार के व्यक्तियों के अनुभव में आती है। एक तो वे महात्मा जिन्हें जन्म से ही शक्ति की अनुभूति होती है। दूसरे वे व्यक्ति जो ऐसे सद्गुरु जो शक्ति सम्पन्न होते हैं उनकी शरण में जाते हैं और वे अपनी शक्ति जाग्रत करा लेते हैं। तीसरे ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जो शक्ति सम्बन्धी साहित्य पढ़कर अथवा शक्ति सम्पन्न सद्गुरूओं के सम्पर्क में पहुँचकर शक्ति सम्बन्धी चर्चा सुनकर अनुप्राणित हो जाते हैं और स्वयं शक्ति के अनुभव करने के लिये प्रयास कर शक्ति की अनुभूति कर लेते हैं।'' मैं स्वभाव से ही प्रायवेट छात्र रहा हूँ। अतः मुझे शक्ति जाग्रत करने को तीसरी विधि ही रुचिकर लगी। जन्म से ही मेरी शक्ति जाग्रत है,

ऐसा तो मुझे अनुभव होता ही न था और सद्गुरुओं की तन, मन, धन से शरण मे जाना मुझे असंभव नहीं तो महान कठिन अवश्य प्रतीत होता था। साथ ही ऐसे प्रयास करने की ओर प्रवृति होती ही न थी। हाँ, इतना अवश्य था कि मुझे रामायण के पठन, मनन में रुचि थी। विशेषकर दो बातों में मेरी दृढ़ निष्ठा थी- एक तो 'हरि व्यापक सर्वत्र समाना' दूसरे 'प्रेम से प्रकट होई मैं जाना।' अतः मैंने विचार किया कि चूंकि श्री हरि की सत्ता तो मुझ में व्याप्त है ही और यही सत्ता सर्वेसर्वा है तो इसी सत्ता का नाम 'देवात्मशक्ति' होना चाहिये। इसी सत्ता का नाम ही कुंडलिनी शक्ति हो सकता है। इस सत्ता को प्रकट करने के लिये प्रेम चाहिये। प्रेम का संबंध स्वयं से ही है। अतः प्राणायाम का लक्ष्य कुंडलिनी शक्ति की अनुभूति ही होना चाहिये। ऐसे ही गायत्री जप का लक्ष्य भी कुंडलिनी शक्ति की अनुभूति कराने के लिये ही होना चाहिये। यदि शुद्ध प्रेम है, निष्ठापूर्ण है और लगन में दृढ़ता है तो शक्ति की अनुभूति अवश्य हो जावेगी ।

श्री स्वामीजी के दर्शन तथा उनकी ध्यानावस्था को देखकर पूर्णतः विश्वास हो गया कि उनकी दिव्यशक्ति अवश्य जाग्रत है और श्री स्वामीजी उससे प्रभावित हो रहे हैं। इन तथ्यों ने मुझे विश्वास उत्पन्न कर दिया कि दिव्यशक्ति अवश्य प्राणी में है और उसकी अनुभूति में ही प्राणी का हित है। सचमुच यही शक्ति प्राणी की जीवनपथप्रदर्शिका हो सकती है। ज्यों-ज्यों मुझे इस प्रकार का चिन्तन होने लगा त्यों-त्यों ही मेरी शक्ति के अनुभव करने की लालसा प्रबल होने लगी। कभी-कभी तो मुझे अपने पर ग्लानि आने लगती कि देखो, साधक लोग क्या कहते होंगे कि यह आदमी महा मूर्ख है घर आई गंगा में इसने अवगाहन नहीं किया और बिना स्नान किये ही चला गया। जो भी हो अब तो दिव्यशक्ति की अनुभूति होना परमावश्यक है। तभी श्री स्वामीजी के पास से वापिस आना सार्थक होगा। अस्तु, दिव्यशक्ति की अनुभूति की ओर ही मेरा आकर्षण उत्तरोत्तर बढ़ने लगा। अन्तस्तल से यही ध्वनि निकलने लगी कि कैसे भी हो लक्ष्य प्राप्त होना ही चाहिये, इसी भावना में डूबा हुआ मैं शिवपुरी वापिस आ गया ।

शक्ति की अनुभूति

स्वामीजी से मिलकर शिवपुरी वापिस आने पर नित्य की भाँति ही प्रातः सायं उपासना का मेरा क्रम चलने तो लगा किन्तु प्रायः हर समय ही शक्ति की अनुभूति करने के विचार आते रहते थे। उपासना में बैठते ही ये ही विचार प्रबल रूप से उठते थे कि "शक्ति तो अपने अन्दर व्याप्त है ही और उसकी अनुभूति भी स्वयं की उत्कट भावना से हो सकती है, साथ ही यह भी सत्य है कि शक्ति चेतन है और वह मन की तथा बुद्धि की सभी बातों को जानती है। वह अन्तर्यामी है। यदि मुझे उसके अनुभव करने की सच्ची लगन है तथा उसके प्रति सच्चा प्रेम है तो उसे अपनी अनुभूति मुझे कराने की कृपा करनी ही चाहिये।" यह विचारधारा, उपासना की अवधि में, सतत ही रहने लगी। प्राणायाम करते भी ये ही विचार प्रबल वेग से उठते रहते थे। गायत्री जप के समय भी मंत्र के अर्थ का चिन्तन तो गौण हो जाता और अनुभूति की इच्छा सर्वोपरि हो जाती थी। शनैः शनैः मेरी अनुभूति करने की भावना इतनी प्रबल हो गई कि मुझे अनुभूति ही अनुभूति के चिन्तन-मनन के अतिरिक्त कुछ सूझता ही न था। यदा कदा मेरी तन्मयता इतनी बढ़ जाती कि मुझे स्वयं अपनी चेतना भी नहीं रहती। उपासना के उपरान्त भी प्रायः यह ध्यान आता रहता था कि ग्वालियर के स्वामीजी के साधक कितने भाग्यशाली हैं जो अपनी-अपनी शक्ति का अनुभव करते हैं और मुझे अभी तक भी अनुभव ही नहीं रहा है। ऐसा विचार आते ही मुझे अपने पर ग्लानि होने लगती और कभी-कभी तो दुःख के आधिक्य से रोना भी आने लगता। उदासी छा जाती । फिर विचारधारा से मोड़ आता और आत्म-विश्वास जाग्रत हो जाता । ऐसा लगने लगता कि शक्ति अवश्य ही अनुग्रह करेगी। वह सर्वज्ञ है, सच्चा प्रेम उससे छिपा न रहेगा। वह जाग्रत होकर मार्गदर्शन अवश्य करेगी। इस प्रकार आशा का संचार होने लगता ।

इसी प्रकार एक-एक दिन व्यतीत होता जाता था। अन्ततोगत्वा फाल्गुन मास का अन्त हुआ। चैत्र लगते ही नवीन सत्र प्रारम्भ हुआ। हृदय में नव उल्लास भर गया। नव रात्रियों में विशेष उपासना के संस्कार उभर आये। विशेषकर इन नौ दिनों में रामायण पाठ करने का संस्कार था ही अतः पाठ आरम्भ कर दिया इस वर्ष पाठ भी शक्ति की अनुभूति में योग दे इसी दृष्टि से आरम्भ किया गया। उपासना की अवधि के उपरान्त भी गायत्री जप करते रहने में अभिरुचि हो गई। गायत्री जप में मन खूब लगता था। 'धियो यो नः प्रचोदयात्' यही प्रेरणा देता था कि "हे माँ, आप हमारी बुद्धियों को प्रेरित करें

जिससे हम अपनी शक्ति का अनुभव कर सकें।" शनैः शनैः आशा अधिक ही अधिक बढ़ती हुई मालूम होती थी। एक-एक दिन करके नवरात्रि का अन्तिम दिन आया। रामनवमी का पर्व आ गया। विश्वास होता था कि सम्भव है, आज शक्ति का अनुभव हो जावे। संध्या की उपासना भी हो गई किन्तु कुछ भी अनुभव नहीं हुआ। उपासना के उपरान्त बेचैनी हो गई और व्याकुलता उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। रात्रि घबराहट में ही जागते सोते बीती। नित्य ही उपासना में दृढ़ता आती थी किन्तु अनुभूति न होने से व्याकुलता होती रहती । किन्तु इस विश्वास से कि शक्ति अपने अन्दर अवश्य है, कितनी ही देर क्यों न लगे अनुभव अवश्य होगा इससे उपासना में मन लगा ही रहता था। इस प्रकार चिन्तन करते-करते रात्रि हो जाती। नित्य की भांति निद्रा तो आती थी पर कई बार सोते-सोते चौक जाता था। निद्रा टूट जाती थी और विचारधारा प्रबल हो उठती फिर बड़ी देर से नींद लग पाती। इस प्रकार क्रम-क्रम से दशमी, एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी निकल गई। इन दिनों में यही विचारधारा उमड़ती थी कि व्यक्ति पूर्णतः शक्ति के अधीन है। उसके इस प्रकार लाख प्रयत्न करने पर भी उसे सफलता न मिलेगी क्योंकि उसके प्रयत्न करने की विधि त्रुटिपूर्ण है। वस्तुतः व्यक्ति सेवक तुल्य है और शक्ति है उसकी स्वामिनी। जब वह व्यक्ति को पात्र समझेगी तभी उसे अपनी अनुभूति करायेगी। व्यक्ति को इच्छा नहीं करना चाहिये, उसे तो अन्दर से उठी प्रेरणा के अनुसार ही वर्तना चाहिये और प्रेरणा के अनुसार काम भी तभी होता है जब कि वह चाहे। इस विचारधारा से चित्त शाँत हो गया। कुछ भी उछाड़ पछाड़ नहीं रही। ऐसा लगता था कि शक्ति ही भगवती है। वही तो सब मुझसे करा रही है। बिना शक्ति की सहायता के मैं कुछ भी तो नहीं करता। वही उपासना कराती है। वही प्राणायाम कराती है। वही जप कराती है। वही अनुभव करने का भाव ला रही है। इस प्रकार के चिन्तन ने बुद्धि स्थिर सी करदी। बुद्धि की स्थिरता ने कुंडलिनी के निवास स्थान की ओर चित्तवृति ले जाने को प्रेरित किया। पुस्तकी ज्ञान के संस्कार उभरने लगे। आध्यात्मिक पुस्तिकों में लिखा है कि रीड की हड्डी के नीचे मूलाधार चक्र है और इसी स्थान से शक्ति जाग्रत होती है। अतः साधक को चाहिये कि वह अपनी चित्त वृत्ति को यहीं केन्द्रित करें। इतना विचार आते ही मेरा ध्यान प्रातः मूलाधार पर ही रहने लगा। चतुर्दशी की प्रातः उपासना के समय भी जप करते समय ध्यान मूलाधार पर ही रहा। दिन भर अन्य कामों को करते हुए भी मूलाधार का स्मरण होता रहता था। संध्या की उपासना में भी प्रातः जैसी मनोवृत्ति बनी रही। चतुर्दशी की रात्रि में और रात्रियों की अपेक्षा अधिक बैचेनी रही। लक्ष्य प्राप्ति की इच्छा चरम सीमा पर पहुँच गई ।

प्रातः लगभग तीन बजे ही उठ गया तथा नित्य नियम से निवृत्त होकर उपासना में जा बैठा। उस दिन यानी 5 अप्रैल 1947 को हनुमान जयंती थी। विद्यालय में भी यह उत्सव मनाया जाता था। सूर्योदय से बहुत पूर्व ही प्रायः सभी छात्र स्नान से निवृत्त होकर प्रार्थना मन्दिर में एकत्रित हो जाते थे। मुझे भी उत्सव में भाग लेना था। अतः मैं उपासना से आज कुछ जल्द निबटना चाहता था। किन्तु उपासना में मेरी स्थिति गम्भीर हो गई। प्रारम्भिक उपासना के क्रम के उपरान्त जैसे ही मैंने प्राणायाम की क्रिया प्रारम्भ की कि मेरे हाथ नासिका पर से स्वतः ही हट गये। मेरी ठोड़ी गले के गड्डे पर जा लगी। श्वास कुछ देर को रुक गई। मस्तिष्क में कुछ विचित्र किस्म की संवेदना होने लगी। एकाएक मूलाधार के स्थान पर कट कट चोट मारने जैसी ध्वनि आई और तीन जोर के झटके से लगे। सारे शरीर में कंप होने लगा। उस समय जैसी स्थिति हुई वह वर्णनातीत है। शनैः शनैः हर्ष और विस्मय युक्त स्थिति मूर्छित अवस्था में परिणत हो गई। आगे क्या हुआ मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं। बेहोशी धीरे-धीरे दूर हुई किन्तु मेरी स्थिति बड़ी विचित्र हो गई। ऐसा लगता था शून्य सी स्थिति हो गई थी। हनुमान जी की पूजा, प्रार्थना आदि का समय हो गया। घंटी बजी। मैं भी लड़खड़ाता सा खड़ा हो गया। कुछ अपने को नियंत्रण में कर मंदिर में जा पहुंचा। वहाँ सब छात्रों एवं अध्यापकों में सम्मिलित हो गया। सबने हनुमान चालीसा आदि का पाठ प्रारम्भ कर दिया। मेरे मुख से एक भी शब्द नहीं निकल रहा था। मैं अपने भूला सा खड़ा रहा। मुझ बाद में मेरे लघुभ्राता देवीलाल जी से मालूम हुआ कि उस समय मेरे चक्षुओं से अश्रुपात होते रहे। उस दिन न तो मुझे भूख अनुभव हुई न प्यास। मुझे अपनी विचित्र स्थिति से घबराहट होने लगी। ज्यों-ज्यों मैं अपनी पूर्व स्थिति पर आता गया त्यों-त्यों ही मुझे बजाय शान्ति के अशान्ति ही अधिक हुई। क्योंकि, न तो किसी से बोलने की इच्छा होती थी और न कहीं आने जाने की। एक ही जगह चुप बैठे रहो यही मन चाहता था। किसी प्रकार संध्या हुई। मैं नित्य की भाँति उपासना में बैठा। अब उपासना विधि में आद्योपान्त परिवर्तन हो गया। स्वतः ही इच्छा से प्राणायाम नहीं हुआ। न जप हुआ। माला हाथ से गिर-गिर जाती थी। ऐसा लगा मानो मैं किसी शक्ति के अधीन हो गया हूँ। उसकी इच्छानुसार मुझे चलना पड़ता था। आँखें खुलती न थीं। सम्पूर्ण शरीर में कम्प होता था। मस्तक भारी हो गया था। मुझे पता नहीं कि शरीर से क्या-क्या क्रियायें हो रही थीं। केवल इतना अनुभव होता था कि विविध शारीरिक क्रियायें हो रही हैं और वे सुखकर हैं। प्रसन्नता भी अनुभव होने लगी थी। कभी-कभी हँसने की क्रिया हो जाती थी। फिर एकाएक मैं पद्मासन की स्थिति में हो गया। अपने

आप हाथ जुड़ गये और मुख से कुछ शब्द निकले। उन शब्दों में आश्वासन भरा था। मैं स्वतः ही अपने को सान्त्वना दे रहा हूँ ऐसा लगा। मेरा चित्त हल्का हो गया। पुनः आशा का संचार होने लगा। ऐसा स्पष्ट भान होता था कि मैं मार्ग से विचलित नहीं हुआ हूँ। ठीक मार्ग पर चल रहा हूँ। जिस शक्ति के अनुभव के लिये मैं छटपटाता था उसी शक्ति की ही अनुभूति हुई है। साथ ही यह भी अनुभव हुआ कि शक्ति का कार्य समस्त शरीर में निरन्तर ही होता रहता था। अब भोजन भी रुचिकर लगने लगा। साथ ही विशेषता यह थी कि आवश्यकतानुसार भोजन ही ग्रहण होता था फिर ग्रास तोड़ा भी न जाता था। उठने का मन कहता और मैं उठ जाता था। शनैः शनैः ऐसा अनुभव होने लगा कि यदि व्यक्ति शक्ति की शरण में सच्चाई से रहे तो सदैव ही उससे कार्य उचित ही होगा ।

दूसरे दिन प्रातः उपासना में बैठते ही आसन जैसी क्रियायें स्वतः ही होने लगीं । ये आसन उन आसनों से भिन्न प्रकार के थे, जिन्हें मैं जानकर करता था। कभी-कभी प्राणायाम जैसी क्रिया भी हो जाती थी। कभी कोई मंत्र स्वतः ही निकलने लगता। उसका उच्चारण आलाप से होता था। उपासना की अवधि नित्य की उपासना की अवधि से बढ़ गई। चित्त एकाग्र रहा। इधर-उधर के विचार आये ही नहीं। जान बूझकर जब मैं आसन करता था तो आसन करने के उपरान्त थकावट हो जाती थी किन्तु अब आसन स्वतः से ही हुए तो थकावट बिल्कुल नहीं हुई। साथ ही शरीर भी हल्का हो गया। नित्य की उपासना में शरीर पुलकित हो उठता था। उपासना की समस्त क्रियायें हर्षोत्पादक होती थीं। मन उपासना में बैठने से ऊबता न था। ऐसे ही संध्या को उपासना में बैठते ही क्रियायें होने लगीं। किन्तु कुछ क्रियायें तो प्रातः जैसी ही थीं और कुछ भिन्न थीं। उपासना की अवधि प्रातः उपासना की अवधि से बढ़ गई थी। अब नित्य ही दोनों समय उपासना में बैठते ही मस्तक वेग से भर जाता था। शरीर जिससे फुर्तीला हो, मन प्रसन्न हो जावे और चित्त एकाग्र बना रहे ऐसी ही क्रियायें उपासना में विशेषकर होती रहती थीं। किन्तु, क्रियायें एकसी नहीं होती थीं, कुछ न कुछ परिवर्तन लिये हुए होती थीं। अब अनुभूति के उपरान्त पूर्व की समस्त बातें समाप्त हो गईं थीं। स्वयं से कुछ भी नहीं करना पड़ता था। सभी क्रियायें यंत्रवत् अपने आप हो जाती थीं। हाँ, पहिले मैं लगभग 1-1 घन्टे दोनों समय बैठता था, किन्तु अब उपासना दो ढाई घंटे ले लेती थी फिर भी उठने को जी नहीं चाहता था। साथ ही दैनिक दिनचर्या उत्तमता से हो जाती थी। दिन भर शांति बनी रहती थी शनैः शनैः उपासना के ढंग में एक नवीन परिवर्तन हो गया। आसन आदि क्रियायें लगभग एक घंटे में हो जाती थीं फिर आलाप होने लगता था मानों सरगम से

पक्का गायन हो रहा हो शब्द अस्पष्ट निकलते थे पर लय से निकलते थे। मन खूब लगा रहता था। आलाप करते समय हाथों की हरकत अधिक होती थी। हाथों से संकेत करते हुये मुख से उतार चढ़ाव युक्त शब्द निकलते थे। कुछ दिन यही उपासना का क्रम रहा। फिर मानसिक स्थिति धीरे-धीरे स्वाभाविक हो गई। उपासना के समय उत्साह विशेष रूप से न रहकर दैनिक क्रम बन गया। हाँ एक महत्वपूर्ण बात यह अवश्य हो गई कि जो भी उलझन दैनिक जीवन में खड़ी हो जाती थी अथवा कोई आध्यात्मिक रहस्य जानने की भावना जाग्रत होती थी तो उसके समाधान करने वाले विचार पद, के रूप में व्यक्त होते थे। ऐसा स्पष्ट अनुभव होता था कि शक्ति वस्तुतः माँ सदृश है जो अपने बालक की त्रुटियाँ मधुर एवं सुन्दर रीति से दूर कर रही है। साथ ही उसकी जिज्ञासाओं का भी शास्त्रीय ढंग से समाधान कराती है जिससे साधक के विवेक की उत्तरोत्तर वृद्धि हो और उसका सर्वांगीण विकास सहज ही होता रहे ।

अनुभूति की पुष्टि

प्राय: एवं सायं साधना में बैठने का क्रम नियमित चलने लगा था, यद्यपि साधना में व्यक्त होने वाली संक्षिप्त क्रियायें आदि वैसे ही होती थीं जैसा कि मैंने पुस्तकों में पढ़ा था, तथापि कभी-कभी ऐसी भी शंका हो उठती थी कि मुझे सचमुच कुंडलिनी शक्ति की ही अनुभूति हुई अथवा किसी अन्य शक्ति की। इसकी पुष्टि तभी हो सकती थी जबकि कोई शक्ति सम्पन्न महापुरुष का सम्पर्क हो और वे साधना के समय व्यक्त होने वाली क्रियाओं को स्वत: ही देखें और अपनी स्पष्ट सम्मति दें कि मुझे जो अनुभूति हुई है वह सचमुच कुंडलिनी शक्ति की ही अनुभूति हुई है ।

प्रकृति चाहती थी कि मेरी इस शंका का समाधान होना चाहिये। अत: वैसा योग आ ही गया। पूज्य स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज से मिलकर बिना दीक्षा लिये ही मैं ग्वालियर से शिवपुरी वापिस आ तो गया था पर स्वामीजी के प्रति मेरी श्रद्धा में कोई अन्तर नहीं आया था। उनके प्रति मुझे प्रेम था ही। प्रकृति के कार्य करने की शैली भी बड़ी विचित्र है। कभी-कभी जब ऐसा लगता है कि स्थिति अनुकूल है तब ऐसी घटना घटित हो जाती है कि स्थिति प्रतिकूल हो जाती है। ऐसे ही कभी-कभी स्थिति ऐसी बन जाती है कि व्यक्तियों के परस्पर के सम्बन्ध विच्छेद हुए स्पष्ट अनुभव में आते हैं तब कुछ ऐसे कारण बन जाते हैं कि व्यक्तियों के परस्पर के सम्बन्ध पूर्व से भी अधिक घनिष्ट हो जाते हैं। लगभग ऐसी ही घटना मेरे साथ भी घटी। श्री स्वामीजी महाराज ने श्री चोखेलाल जी को एक पत्र लिखा। उसमें उन्होंने व्यक्त किया कि "वे इस वर्ष चातुर्मास में शिवपुरी रहना चाहते हैं और भारतीय विद्यालय में मेरे पास ही उनकी व्यवस्था हो जावे तो ठीक है।" आश्रम का वातावरण उनकी प्रकृति के अनुकूल था। साथ ही वे मेरे स्पष्ट व्यवहार के आचरण से संतुष्ट हैं ऐसा प्रतीत होता था। श्री चोखेलाल जी ने मुझ से आकर स्वामीजी के विचार कहे। मुझे उनके विचार सुनकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई। जिस गंगा में अवगाहन को मैं ग्वालियर गया था और वहाँ असफल होने पर वापिस शिवपुरी आ गया था वही गंगा अत्यन्त कृपावन्त होकर स्वयं ही शिवपुरी मेरे आश्रम पर ही कुछ माह निवास हेतु आने को उत्सुक है इससे बढ़कर मेरा और अधिक सौभाग्य क्या हो सकता था। अस्तु, श्री चोखेलाल जी से मैंने कह दिया कि "आश्रम स्वामीजी का ही है वे चाहें तब तक निवास करें और हमें सेवा करने का सौभाग्य प्रदान करें।" श्री चोखेलाल जी ने पूछा कि आश्रम तो आपका छोटा सा है स्वामीजी के रहने की व्यवस्था कैसे हो सकेगी

? मैंने कहा कि 'मेरी कुटिया को मैं खाली कर दूंगा। स्वामीजी सहर्ष उसमें ठहरें और एक दूसरी कुटिया जो अभी कुछ मरम्मत मांगती है उसकी मरम्मत कर लेंगे उसमें मैं रहने लगूंगा। आश्रम में कुछ छात्रों का भोजन का प्रबन्ध है ही श्री स्वामीजी का भी प्रबन्ध वहीं हो जावेगा। छात्र सहर्ष स्वामीजी की भी सेवा कर सकेंगे।'' श्री चोखेलाल जी स्वामीजी के स्वभाव से भली प्रकार परिचित थे। वे आडम्बर हीन प्रवृति के थे। अधिकांश अपने कार्य वे स्वतः ही कर लेते थे। स्वावलम्बन का जीवन उन्हें पसन्द था। अतः उन्होंने मेरे विचार को ठीक समझा और कहा कि वे स्वयं भी स्वामीजी को किसी प्रकार की असुविधा न हो इस पर ध्यान रखेंगे। वर्षा होने पर यदि मेरी कुटिया जिसमें मैंने रहने की सोचा था टपकेगी तो उन्होंने अपना पुराना टैन्ट कुटिया के भीतर लगा देने का कहा जिससे मुझे भी किसी प्रकार का कष्ट न हो साथ ही स्वामीजी भी मेरे दैनिक निवास करने की कुटिया में भली प्रकार रह सकें। ऐसा निर्णय होने पर उन्होंने श्री स्वामीजी महाराज को लिख दिया कि ''आप चातुर्मास के हेतु शिवपुरी में भारतीय विद्यालय पर प्रसन्नतापूर्वक रह सकते हैं। हम सब आपकी सेवा करने में अपना महान् सौभाग्य समझते हैं।''

पत्र पाकर श्री स्वामीजी महाराज श्री विमल ब्रह्मचारीजी के साथ जून के अन्तिम सप्ताह में शिवपुरी आ गये। जिस कुटी में मैं रहा करता था उस कुटी में श्री स्वामीजी महाराज को विराजमान कर दिया। श्री स्वामीजी महाराज भगवावस्त्र धारण करते थे तथा कुछ हेर फेर से सन्यास धर्म का ही पालन करते थे। उनके निवास से ऐसा लगने लगा मानो भगवान् शंकराचार्य ही आ गये हों। संध्या को जब आश्रम के खुले मैदान में तख्त पर वे बैठे तो आसपास का वातावरण जाग्रत हो गया। चमेली के फूलों से सुगन्धित होकर शीतल मन्द वायु के स्पर्श से स्वामीजी महाराज अत्यन्त प्रसन्न हुए। वे अपने साथी ब्रह्मचारी को सम्बोधन करते हुए कहने लगे कि ''ग्वालियर की गर्म हवा शरीर को झुलसाती थी। प्रभु ने कृपा करके कितने सुन्दर शीतल वातावरण में ला दिया।'' नित्य नियम के उपरान्त प्रसाद ग्रहण कर स्वामीजी ने शयन किया। श्री स्वामीजी महाराज के दर्शन हेतु श्री चोखेलाल जी के साथ भक्त लोग आने लगे। सत्संग होने लगा। श्री विमल ब्रह्मचारीजी खाली समय में उपनिषद् पढ़ते थे और श्री स्वामीजी भावार्थ समझाते थे। बाहर से भी साधक वृन्द श्री स्वामीजी से भेंट करने आया करते थे। श्री स्वामीजी के सत्संग से मैं पूर्ण लाभ उठाता था। दीक्षा के सम्बन्ध में न तो मैंने श्री स्वामीजी से निवेदन किया और न उन्होंने ही दीक्षा सम्बंधी किसी भी प्रकार की चर्चा की ।

संयोग से एक दिन श्री स्वामीजी महाराज से दीक्षित एक सज्जन देहली से आये। आश्रम की दिनचर्या देखकर वे बड़े प्रभावित हुए। प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व ही जब वे देहली वापिस जाने लगे तब उन्होंने आश्रम को पच्चीस रुपये भेंट देने के लिए श्री स्वामीजी से निवेदन किया। श्री स्वामीजी उनके प्रस्ताव से प्रसन्न हुये और वे उन्हें अपने साथ लेकर मेरी कुटी के अन्दर आना चाहते थे किन्तु कुटी के द्वार पर टाट का पर्दा पड़ा था । यद्यपि स्वामीजी महाराज के लिये तो हर समय पर्दा खुला था किन्तु मर्यादा के निर्वाह करने का उनका स्वभाव था। अतः उन्होंने बाहर से ही मेरा नाम लेकर अन्दर पहुँचना ठीक समझा। उस समय तख्त पर बैठा हुआ साधनावस्था में था। क्रियायें हो रही थीं। श्री स्वामीजी की बोली सुनते ही मैं तख्त से उतरकर खड़ा हो गया। शरीर में कम्प तो था ही पर क्रियाओं का वेग भी शनैः शनैः कम हो रहा था। श्री स्वामीजी ने कहा कि "नारायणदास जी यह शिवहरे जी आपके आश्रम के लिये 25/- भेंटकर रहे हैं। आप ले लीजिये।" मैंने धनराशि ले ली। श्री स्वामीजी शीघ्र ही शिवहरे जी के साथ कुटी से वापिस चले गये। मैं भी उनके साथ-साथ जाने लगा तो स्वामीजी ने मुझसे केवल इतना ही कहा कि "आप साधना में बैठें। साधना के उपरान्त आना।" शरीर में वेग तो था ही। तुरन्त ही पुनः साधना में प्रवृत्त हो गया तथा पूर्ववत् क्रियायें पुनः चालू हो गईं। मेरे मन में उस समय ऐसा विचार आया कि श्री स्वामीजी महाराज को भगवती ने धनराशि दिलाने के निमित्त से मेरी साधना दिखा दी। अब निश्चय ही आज श्री स्वामीजी से चर्चा विशेषकर साधना पर ही होना चाहिये। अब निश्चय हो जायेगा कि वास्तव में मेरी कुंडलिनी शक्ति जाग्रत हुई है अथवा नहीं ।

नित्य की भाँति मैं अपने आवश्यक कार्यों से निवृत्त होकर श्री स्वामीजी के निकट सत्संग के लिये गया। मुझे देखते ही श्री स्वामीजी प्रसन्न हो गये और प्रेम से बोले कि "नारायणदास जी, तुम्हारी क्रियायें स्पष्ट कहती हैं कि तुम्हारी कुंडलिनी शक्ति जाग्रत हो गई है, तुम्हें दीक्षा लेने की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है।" फिर ब्रह्मचारी जी की ओर मुख करके कहने लगे कि "देखो विमलजी, स्वाभाविक रूप से शक्ति जब जाग्रत होती है तब कितनी सुन्दरता से क्रियायें होती हैं। साधक की प्रगति स्वतः ही निर्विघ्न होती रहती है। ऐसे साधक विरले ही होते हैं।" इस प्रकार श्री स्वामीजी महाराज ने मुझे पूर्णतः विश्वास दिला दिया कि मेरी कुंडलिनी शक्ति ही जाग्रत हुई है, इसमें सन्देह नहीं। फिर प्रेम से श्री स्वामीजी महाराज ने मुझे समझाया कि "धरती पर कम्बल बिछाकर साधना के लिये बैठा करो, तख्त पर बैठकर साधना करने से वे क्रियायें रुक जाती हैं जिनमें तख्त
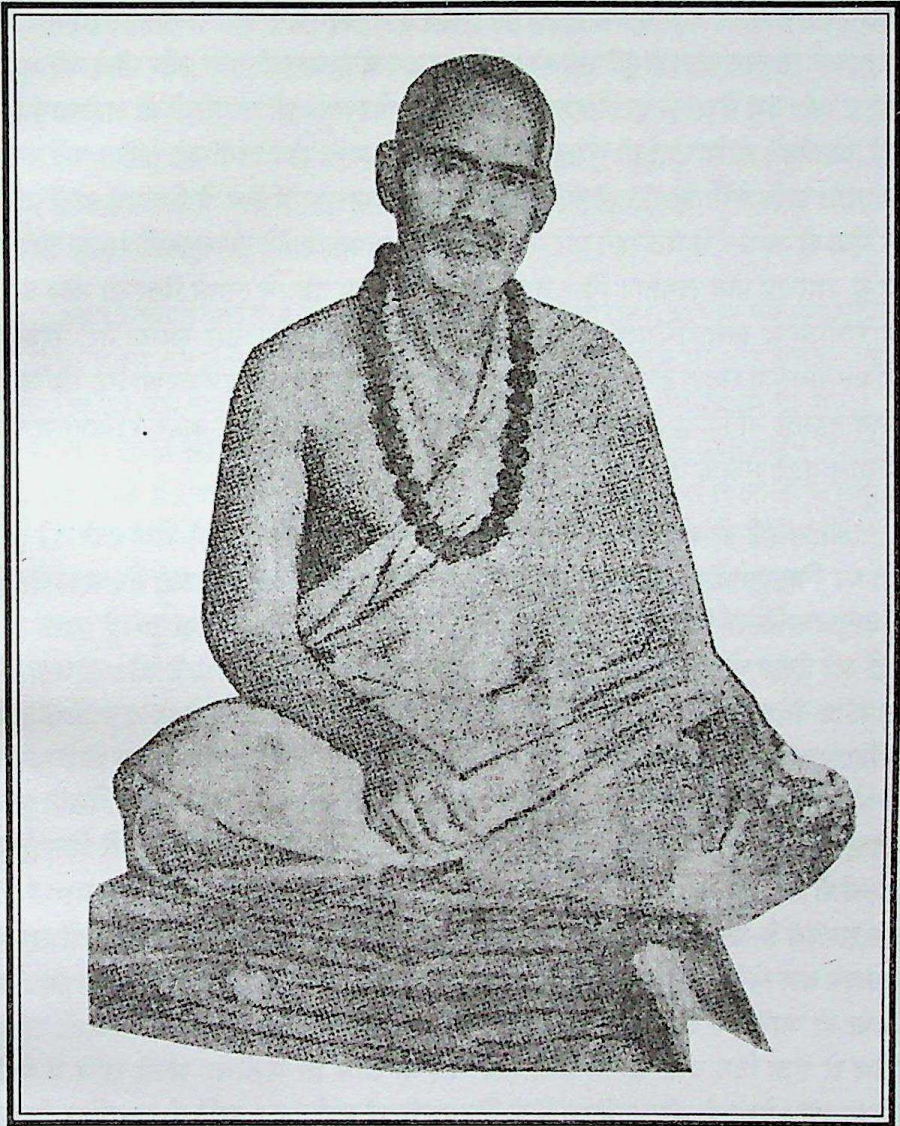
ब्रह्मलीन श्री 1008 स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज

से गिर जाने का भय होता है। माँ, भगवती को पूर्णतः कार्य करने के लिये कमरे में अड़चन करने वाली वस्तुऐं भी न रहें तो अच्छा है।'' लगभग एक सप्ताह में झोंपड़ी के भीतर तम्बू के लग जाने से झोंपड़ी से पानी का टपकना बन्द हो गया और नीचे की भूमि भी सूख गई। तब मैं धरती पर बैठकर ही साधना करने लगा। श्री स्वामीजी के आदेशानुसार धरती पर बैठने से साधना के समय ऐसी अनेकों क्रियायें होने लगीं जो पहिले नहीं होती थीं। शनैः शनैः ऐसी स्थिति हो गई कि साधना के आरम्भ में वेग से क्रियायें होतीं और फिर एक ही आसन से बैठे रहने को मन चाहता। इस प्रकार बैठे हुए कुछ ही समय उपरांत मुख से आलाप होने लगता। फिर ताल स्वर से सरगम दोहरने लगते फिर दो तीन घन्टे तक संगीतमय शब्द पिंगल में बंधे हुये निकला करते थे। उस समय मेरी स्थिति अर्द्धस्वप्नावस्था सदृश होती थी। साधना के उपरान्त ऐसा अनुभव होता था कि संगीत में वे बातें दुहरती थीं जिनको मस्तिष्क सुलझाने में लगा रहता था और अन्त में जिज्ञासा का समाधान बड़ी रोचक ढंग से हो जाता था।

श्री स्वामीजी महाराज से मैंने एक दिन कहा कि ''साधना में चेतावनी देते हुये प्रायः पद निकलते हैं।'' श्री स्वामीजी महाराज ने कहा कि ''उन्हें नोट कर लिया करो।'' मैंने अनुभव किया कि साधना में जब चित्त तल्लीन रहता है तब उस समय व्यक्त हुए शब्दों को लिख लेना महान कठिन था। लिखने की चेष्टा ही नहीं होती थी। साधना के बाद सोच-सोच कर उन शब्दों को लिखने की चेष्टा भी की किन्तु वे शब्द ज्यों के त्यों नहीं लिखे जा सके। ऐसे प्रयास से जो पद लिखे जाते वे नवीन रचना का रूप धारण कर लेते थे जिनसे जिज्ञासा के अनुसार समाधान नहीं होता था। अपनी इस स्थिति का उल्लेख मैंने श्री स्वामीजी से संकोच वश नहीं किया। श्री स्वामीजी ने भी फिर इस सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की पूछताछ न की। साधना में संगीत का क्रम चलता ही रहा। सम्भव है, उनसे मेरी आध्यात्मिक समस्यायें जो दैनिक ही उभरा करती थीं उनके समाधान कर लेने की समझ में वृद्धि हो रही हो। श्री स्वामीजी के चातुर्मास की अवधि समाप्त हो जाने पर जब वे प्रस्थान कर गये तब भी अस्पष्ट पद्य रचना चलती रही। संयोग से एक दिन एक संगीत प्रेमी विशारद के छात्र श्री वंशीधर सोनी रात्रि में मेरी कुटिया की ओर गये और कुटिया में से निकलती हुई संगीतमय ध्वनि से प्रभावित होकर कागज पेन्सिल तथा लालटैन लेकर कुटी के समीप बैठ गये और लगभग दो ढाई घंटे तक कागजों पर शब्दों को लिखते रहे। जब संगीत समाप्त हुआ और मैं साधना से उठकर कुटी के बाहर आया तो उन्होंने मुझे वे कागज दिखाये। शब्दों के उच्चारण समाप्त होते

ही तुरन्त ही मैं कुटी से बाहर आया था। जब मैंने उन अस्पष्ट अलाप के सांकेतिक अक्षरों के सहित उन शब्दों को देखा तो अर्थपूर्ण शब्दों पर तत्काल मेरा ध्यान आकर्षित हो गया और मैंने उनके नीचे रेखा खींच दी। जब रेखांकित शब्दों को श्री वंशीधरजी ने पढ़ा तो उन्होंने कहा ''महाराज, यह तो सुन्दर पद है। इसे गाया जा सकता है।'' मैंने कहा ''आप पद को अलग से कापी पुस्तक पर उतार लीजिये।'' उन्होंने वैसा ही किया। लगभग एक वर्ष तक यह पद्य रचना की क्रिया चलती रही। बाद में इन पद्यों की ''साधक साधना'' नाम से एक पुस्तिका भी प्रकाशित कर दी गई ।

श्री स्वामीजी महाराज के सत्संग का लाभ मैं लेता रहा। आषाढ़ की गुरु पूर्णिमा को प्रायः सर्वत्र गुरु पूजा होती है। हमारे आश्रम में भी यह उत्सव समारोह पूर्वक मनाया जाता रहा है। इस पावन पर्व पर श्री स्वामीजी का समुचित सम्मान किया गया। श्री स्वामीजी ने छात्रों को आशीर्वाद दिया। मुझे भी श्री स्वामीजी की पूजा करने की इच्छा हुई। मैंने उनके तिलक किया तथा उन्हें पुष्प माला पहनाई। तदुपरान्त लोकाचारानुसार भेंट के रूप में नारियल तथा अल्प धनराशि उनके सामने रख दी। श्री स्वामीजी ने मुस्कराकर प्रेम से कहा ''भैया, मैं तो दक्षिणा उन साधकों की स्वीकार करता हूँ जिन्हें मैं दीक्षा देता हूँ। चूँकि आपको मैंने दीक्षा ही नहीं दी है तुम पर तो भगवती ने स्वयं कृपा की है अतः मैं धनराशि नहीं लूंगा।'' तब उन्होंने मुझ धनराशि वापिस कर दी। मेरे बहुत आग्रह करने पर केवल श्रीफल स्वीकार कर लिया। श्री स्वामीजी महाराज चातुर्मास करके पर्यटन को चले गये। किन्तु मेरे स्मृति पटल पर उनका मधुर व्यवहार तथा उनके निवास के उन दिनों का वातावरण सदैव अंकित रहता है। उनके आशीर्वाद से तथा उनके निकट सम्पर्क में लगभग दो माह रहने से मुझे दृढ़ विश्वास हो गया कि मुझे जिस शक्ति का अनुभव हुआ है वह कुंडलिनी शक्ति ही है। पुस्तकों में दिये गये कुंडलिनी शक्ति के जागरण के लक्षण भी प्रायः मेरी क्रियाओं में मिलते थे। शनैः शनैः साधना में मैं अधिक समय देने लगा और शक्ति के सम्बंध में मुझे जैसा-जैसा अनुभव हुआ है अब आगे के पृष्ठों में उसी पर प्रकाश डाला जावेगा ।

जीवन मुक्त स्थिति

जब तक व्यक्ति अपने स्वरूप से ठीक-ठीक परिचित नहीं हो जाता तब तक उसकी दृष्टि में शरीर ही सब कुछ है। जब तक शरीर है तब तक ही उसे जीवन अनुभव होता है। मृत्युभय से वह सदा ही भयभीत रहता है। स्वास्थ्य में थोड़ी भी गड़बड़ी से वह व्याकुल हो जाता है। किन्तु जब उसे ध्यान आता है कि मृत्यु तो अनिवार्य है और मानव के लाख प्रयत्न करने पर भी मृत्यु टाली नहीं जा सकती तब कहीं उसकी चित्तवृत्ति उन लोगों की बातें सुनने की ओर प्रवृत्त होती है जो प्रायः यह कहा करते हैं कि "सत्संग में आध्यात्मिक चर्चा होती है। जिसमें वे उपाय सुझाये जाते हैं जिनसे व्यक्ति शरीर के नाश होने पर भी नहीं मरता और मरता है तो मोक्ष प्राप्त कर लेता है। उसे दोबारा जन्म नहीं लेना पड़ता।" यदि जिज्ञासु मानव का मस्तिष्क वैज्ञानिक है तो उसे केवल यह बात संतोष न देगी कि व्यक्ति के मरने के बाद भी वह नहीं मरता अथवा वह जन्म मरण से छुटकारा पा लेगा। उसका मन इन बातों पर अधिक से अधिक विचार करने को प्रवृत्त होगा। चिन्तन करते-करते वह अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि व्यक्ति पृथक् है और उसका शरीर पृथक् है किन्तु जीवित अवस्था में वे पृथक् नहीं हो सकते। वे एक दूसरे के पूरक हैं। साथ ही उसे अनुभव होगा कि उसके सुख-दुःख व्यक्त करने की क्रिया उसके मस्तिष्क से होती है। मस्तिष्क विचारों का भंडार है। यह भंडार अनेक भागों में विभक्त है। एक से स्मृति चिह्नों का एक-एक भाग है। एक भाग में 'मैं पन' के संस्कार हैं, एक भाग में 'मैं पन' के नियंत्रण के संस्कार हैं और एक भाग में कर्म जो किया जाता है उसके साक्षी होने के संस्कार हैं ।

ऐसा अनुभव होता है कि सृष्टि के आदि काल से प्रत्येक मानव के द्वारा व्यक्त किये गए शब्दों की ध्वन्यात्मक तरंगे नित्य ही आकाश में व्याप्त रहती हैं और ये तरंगें प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क की तरंगों को नित्य ही प्रभावित करती रहती हैं। इन तरंगों से प्रभावित हुई व्यक्ति के मस्तिष्क की तरंगें स्फुरित होकर व्यक्ति को तत्सम आचरण करने के लिए बाध्य करती हैं। इस प्रकार प्रत्येक कार्य को संपादित करने का उत्तरदायित्व व्यक्ति के मस्तिष्क की बाह्य आकाश से प्रभावित हुई 'मैं पन' की तरंगों का है यानी 'मैं पन' के संस्कार शरीर तथा इन्द्रियों को कर्म करने के लिये प्रवृत्त करते हैं। किये जाने वाले कर्म के साक्षीभाव के संस्कार 'मैं पन' के संस्कारों से पृथक अस्तित्व रखते हैं। किंचित् सूक्ष्म रूप से विचार करें तो विदित होगा कि व्यक्ति का अस्तित्व अपने समस्त

संस्कारों से पृथक् है। जब उसका ध्यान शरीर अथवा इंद्रियों पर होता है तब वह शरीर तथा इन्द्रियों से घुलामिला रहता है। जब उसका ध्यान 'मैं पन' के संस्कारों पर होता है तब वह 'मैं पन' के संस्कारों से घुलामिला रहता है। जब उसका ध्यान नियन्त्रण करने वाले संस्कारों पर जाता है तब वह उनमें मिला हुआ अनुभव करता है। जब उसका ध्यान साक्षीभाव के संस्कारों पर जाता है तब वह प्रकृति को कार्य करते हुए और स्वयं को प्रकृति से पृथक् अनुभव करता है। इस स्थिति में जितनी देर भी व्यक्ति रहता है उसमें कर्तापन नहीं आता। इस स्थिति में कुछ समय तक रहना ही साधना में रहना कहलाता है नित्य की इस प्रकार की साधना से व्यक्ति के मस्तिष्क में साक्षीभाव में रहने के स्मृति चिह्न प्रचुर मात्रा में निर्मित होते रहते हैं। जब वे पुष्ट हो जाते हैं तब व्यक्ति के द्वारा जो भी कार्य होगा उसको ऐसा लगेगा कि सब कार्य प्रकृति कर रही है वह स्वयं तो साक्षीमात्र है। साक्षी कर्म का कर्ता नहीं कहलाता और कर्म के फल उसी को प्राप्त होते हैं जो कर्म का कर्ता होता है । चूँकि कर्म के परिणाम भोगने के लिए ही व्यक्ति का जन्म होता है और फल भोग चुकने पर उसकी मृत्यु होती है अतः जिस व्यक्ति के द्वारा कर्म ही नहीं हुआ है उसका कर्म फल से कोई सम्बंध ही नहीं है ।

विवेचन से स्पष्ट है कि जन्म-मरण उस व्यक्ति का होता है जो कर्म का कर्ता अपने को समझता है किन्तु जो अपने को कर्म का कर्ता नहीं मानता, केवल कर्म का साक्षी मानता है ऐसी विचारधारा वाले व्यक्ति का निश्चय ही न जन्म होता है न मृत्यु होती है। वह जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है। जन्म मरण से मुक्त होने को ही आम तौर से लोग मोक्ष प्राप्त करना मानते हैं अतः साक्षीभाव में रहकर जो व्यक्ति कर्म करता है उसे जीवनमुक्त ही होना चाहिये ।

अस्तु, शक्ति की अनुभूति करने के उपरांत जब साधक नित्य साधना में बैठता है यानी कुछ देर तक न तो वह स्वयं कुछ करता है, न सोचता है और प्रकृति जो कुछ भी करे उसे करने देता है, स्वयं को प्रकृति के कार्य में नहीं उलझाता तब ऐसा कहा जाता है कि साधक साक्षीभाव में स्थित है। साधना में बैठक का निरंतर अभ्यास साधक के मस्तिष्क में ऐसे संस्कार निर्माण करता है कि कर्म को करने वाली प्रकृति है, साधक नहीं है। शनैः-शनैः ये संस्कार भली प्रकार पुष्ट हो जाते हैं तब साधक के मस्तिष्क में यह बात दृढ़ हो जाती है कि वह कर्म का कर्ता नहीं। कालान्तर में यही विचारधारा कि वह कर्म का कर्ता नहीं है मस्तिष्क में भली प्रकार जम जाती है। इस प्रकार की धारणा ही "ज्ञान" कहलाता है। ऐसे ज्ञानी के दृष्टिकोण से व्यक्ति का अज्ञान ही जन्म-मरण का

प्रमुख कारण है ।

वस्तुतः सत्य तो यह प्रतीत होता है कि जन्म-मरण होता ही नहीं है क्योंकि जो व्यक्ति अपने स्वरूप से भली प्रकार परिचित है वह जानता है कि शरीर तथा इन्द्रियाँ तो काम करने के उपकरण मात्र हैं जिन्हें मस्तिष्क के 'मैं पन' आदि के संस्कार बर्तते हैं। उपयोग करते-करते शरीर तथा इन्द्रियाँ तो बेकार हो जाती हैं। किन्तु वे संस्कार जो इन्द्रियों आदि का उपयोग करते हैं बेकार नहीं होते। शरीर तथा इन्द्रियों के बेकार होने पर वे केवल उनसे अपना संबंध छोड़ देते हैं और नवीन शरीर तथा इंद्रियों को प्राप्त करने के लिए आकाश में व्याप्त होकर किसी भी गर्भिणी माता के उदरस्थ भ्रूण के मस्तिष्क में नैसर्गिक ढंग से प्रविष्ट हो जाते हैं। इस क्रिया का उल्लेख व्यक्तिगत अनुमान ही है। वस्तुतः विचार कैसे नवीन शरीर धारण करते हैं इस सम्बंध में निश्चित मत व्यक्त नहीं किया जा सकता। हाँ, यह तथ्य स्पष्ट है कि विचार शरीर से पृथक हैं और साक्षीभाव के संस्कार अपना पृथक् अस्तित्व रखते हैं। साक्षीभाव में दैनिक ही बैठने से जब कालान्तर में साक्षीभाव के संस्कार भली प्रकार जम जायेंगे तब विवेकी साधक स्वतः ही विचार कर सकेगा कि वर्तमानकाल के किए गए समस्त कर्म उसने नहीं किये हैं बल्कि वे प्रकृति के ही बाह्य विचारों से प्रभावित होकर मस्तिष्क के अंतः विचार शरीर तथा इंद्रियों के माध्यम से हुए हैं। साधक स्वयं कुछ नहीं करता। अतः वर्तमानकाल के किये गये कर्मों का फल उसे नहीं मिलेगा। उसकी स्थिति वर्तमानकाल के कर्मों के लिये जीवनमुक्त सदृश ही है। इसी प्रकार भविष्य काल के कर्मों के करने में भी साधक अपने को कर्ता नहीं मानेगा क्योंकि वर्तमान का अभ्यास ही तो भविष्य में बर्ता जावेगा। अतः भविष्य काल में भी साधक जीवनमुक्त सदृश ही आचरण करेगा। अब यदि साधक का ध्यान भूतकाल में कर्तापन से किये गये कर्मों के सम्बंध में जावेगा तो उसे ऐसा लगेगा कि भूतकाल के कर्मों को करते समय वह अज्ञानी था, उसे यह विदित नहीं था कि कर्म की कर्तृ, प्रकृति थी, वह नहीं। इसलिए तब उसे ऐसा लगता था कि भूतकाल के कर्मों के कारण उसका जन्ममरण होगा किन्तु अब उसे यह ज्ञान हो गया है कि वह कर्म का कर्ता नहीं अतः अब उसकी यह धारणा हो जावेगी कि सचमुच भूतकाल के कर्म भी प्रकृति द्वारा ही किये गये थे। वह अज्ञान से ही उनका कर्ता स्वयं को मानता था। अतः वर्तमान काल का आया ज्ञान भूतकाल के अज्ञान को निर्मूल कर देगा। अस्तु, साक्षीभाव के अभ्यासी साधक के भूतकाल में किये गये समस्त कर्म जो कर्तापन से किये गये थे उन्हें भी ज्ञान आ जाने से नष्ट हो जाना चाहिये। यह ज्ञान जब भली प्रकार सुदृढ़ हो जाता है कि कर्म की कर्तृ प्रकृति है, व्यक्ति नहीं, तब उसके कर्ता बनने का अज्ञान स्वतः ही

निर्मूल हो जावेगा। अब चूंकि वर्तमानकाल में साधक द्वारा कर्तापन से कर्म हो ही नहीं रहे हैं और भविष्य में भी सभी कर्म कर्तापन से रहित होकर ही उससे होंगे तब स्पष्ट है कि तीनों काल के साधक के कर्म उसके विवेक से नष्ट हो जाते हैं। उसके फल पाने को उसे जन्म नहीं लेना पड़ेगा। जब जन्म ही नहीं होगा तो मृत्यु होगी कहाँ से ? इस प्रकार साक्षीभाव के अभ्यास से साधक सहज ही जीवनमुक्त हो सकता है। यदि यह कहा जावे तो असंगत न होगा कि शक्ति की अनुभूति से साधक अपने स्वरूप को भली भांति से समझ लेता है। फलतः साधना में साक्षीभाव के अभ्यास को बैठते ही वह जीवनमुक्ति स्थिति के पथ पर स्वतः ही चलने लगता है और कालान्तर में जीतेजी ही वह मुक्त हो जाता है यानी वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि व्यक्ति का शरीर जन्म नहीं लेता। वह तो पंचभूतों से मिल जाता है। वासना के अनुसार नैसर्गिक ढंग से पंचभूतों का नवीन शरीर बन जाता है। इस नवीन शरीर का पुराने शरीर से कोई सम्बंध नहीं रहता। व्यक्ति के विचार जो फलेच्छा से युक्त होते हैं वे ही शरीर छोड़ने पर दूसरा शरीर धारण करते हैं। वैसे तो ऐसा अनुभव होता है कि व्यक्ति अपने जीवनकाल में ही अनेक व्यक्तियों के मस्तिष्कों में अपने संस्कार बना लेता है और उन शरीरों के माध्यम से अपनी तृप्ति करता रहता है। उदाहरणार्थ यह जानकारी प्रायः सभी लोगों को है कि वृक्ष जीते जी अनेक वृक्षों में परिणत हो जाते हैं सूखने पर नहीं। मानलो की एक आम का वृक्ष दस वर्ष का हो गया है और उसमें बौर आ गया है। शनैः शनैः कैरी आ गई। आँधी आदि से बहुत से फल झड़ गए हैं। शेष फलों का उपयोग खाने आदि में हुआ है। खाये आमों की कुछ गुठलियाँ अवश्य ही जमीन में प्रड़ी रहेंगी। वर्षों में वे पीक आवेंगी। कुछ उखड़ जावेंगी। निश्चय ही कुछ अवश्य जमी रहेंगी और बढ़कर वृक्ष बनने की ओर चल पड़ेंगी। ये नवीन वृक्ष उसी आम के कहलायेंगे जिन्हें हम ऐसा कह सकते हैं कि हमारे आम के वृक्ष ने इस वर्ष इतने आमों के वृक्षों में जन्म ले लिया है। प्रति वर्ष ऐसे ही इस आम के वृक्ष के नवीन आम के वृक्ष बनते रहेंगे। अब वृक्ष ने सूखना आरम्भ कर दिया। सब पेड़ लगभग सूख गया है। केवल एक डाली ही हरी है। अब यदि बौर आवेगा तो इसी डाली में आवेगा। अन्त में यह हरी डाली भी सूख जावेगी। अब सूखे वृक्ष में बौर नहीं आ सकता। उस वृक्ष को काटकर उसके तख्ते आदि बनाने में उपयोग में लावेंगे। किन्तु वह वृक्ष अब बौर नहीं लावेगा जो बौर बनकर नवीन आम के पौधों में परिणत हो सके। हाँ, उस वृक्ष के जीतेजी ही उसके विचारों से निहित गुठलियों से अनेक आमों के पेड़ अवश्य बन चुके हैं। इस बात को हम यों भी कह सकते हैं कि हमारे आम के वृक्ष ने अपने जीतेजी अपने विचारों से अनेक आमों के वृक्षों

के रूप धारण कर लिये हैं। ऐसे ही प्रत्येक मानव अपने जीतेजी अनेक विचारों का प्रसार करता है। जो-जो व्यक्ति उसके विचारों को ग्रहण करते हैं उन-उन व्यक्तियों में वह मानव अपने विचारों के रूप में पहुँचकर उन-उन शरीरों के माध्यम से उन विचारों को बर्तता है। उदाहरणार्थ किसी महात्मा के विचारों को उन महात्माजी के शिष्यों ने ग्रहण कर लिया है। मान लो एक शिष्य की स्त्री ने एक पुत्र रत्न उत्पन्न किया, माता पिता के संस्कार भ्रूण के रूप में पुत्र ने ग्रहण कर लिये। अब यदि वह पुत्र ऐसे आचरंण करता है जैसे कि महात्माजी करते थे तो प्रायः लोग कह दिया करते हैं कि ऐसा लगता है कि पुत्र के रूप में महात्माजी ने जन्म ले लिया है ।

हाँ, यदि शरीर से सम्बंध विच्छेद होते समय व्यक्ति की कोई प्रबल इच्छा शेष है और जिसे किसी ने भी ग्रहण नहीं की है तो उसकी वह इच्छा तरंगों के रूप में आकाश मे व्याप्त वायु के माध्यम से जन्म लेने के लिये उत्सुक रहती है और अनुकूल वातावरण ढूँढ़ती है। जब उसके तत्सम विचारों को व्यक्त करने वाली कोई गर्भवती माँ उसकी इच्छा के अनुकूल पुत्र प्राप्ति हेतु विचार करती है तो जन्म के लिये लालायित उस व्यक्ति की विचार तरंगें तत्सम पुत्र के लिये इच्छुक माँ के गर्भ के मस्तिष्क में प्रविष्ट हो जाती हैं और कालान्तर में मानव के रूप में प्रकट होकर अपनी इच्छा की पूर्ति करने में लग जाती है। इस क्रिया को हम यों भी कह सकते हैं कि व्यक्ति ने अपनी इच्छा से जन्म लेकर अपनी इच्छा पूर्ति की। किन्तु ऐसा व्यक्ति जो अपने विवेक से अपने को कर्म का कर्ता ही नहीं मानता उसके लिए जन्म लेना कोई अर्थ ही नहीं रखता। वह अपनी विचार तरंगों के रूप में साक्षी बना हुआ आकाश में व्याप्त विचार तरंगों के मध्य सर्वत्र विचरता रहता है। यदि कोई व्यक्ति जीवनमुक्त होने की ओर चलने का प्रयास करता है तो ये विचारतरंगें उसके मस्तिष्क की विचार तरंगों को प्रभावित कर उसकी सहायता करती हैं। अतः ऐसा कहना अनुचित नहीं कि जीवनमुक्त व्यक्ति दूसरें लोगों को भी जो जीवनमुक्त होना चाहते हैं सहायता करता है। यद्यपि उसे स्वयं अपने अस्तित्व की भी जानकारी नहीं रह सकती परन्तु वह बिना जाने ही स्वाभाविक रूप से लोगों को शांतिमय दैनिक जीवन व्यतीत करने में नैसर्गिक रूप से योग देता रह सकता है। इस प्रकार मानव यदि साधना पद्धति को अपनाता है और अपनी शक्ति की अनुभूति करता है तो निश्चय ही उसे साक्षीभाव में रहकर कर्तव्यपालन करने की क्रिया आ जावेगी। इस क्रिया के माध्यम से मानव अपने जीवन को सार्थक बनाकर कृतकृत्य हो सकता है, अपने को जीवनमुक्त बना सकता है। साथ ही दूसरों को भी जीवनमुक्त बनाने में सहयोग प्रदान करने का सौभाग्य प्राप्त कर सकता है ।

आध्यात्मिकता
जीवन यापन की अनुपम युक्ति

विचारणीय है कि प्रत्येक व्यक्ति को शरीर एवं इंद्रियों से काम लेना ही पड़ता है। शरीर एवं इंद्रियाँ काम करने के उपकरण हैं। इनका सदुपयोग किया जावे तो अधिक समय तक ये काम देते रह सकते हैं और यदि इनका दुरुपयोग किया जाये तो अभीष्ट समय से पूर्व ही वे ठीक तौर से काम करने योग्य नहीं रहेंगे। शरीर तथा इन्द्रियों का सदुपयोग अथवा दुरुपयोग करने वाला वैसे तो नामधारी व्यक्ति होता है किन्तु नामधारी व्यक्ति को तर्क से खोजना महान् कठिन है। ज्यों-ज्यों हम उसे खोजेंगे त्यों-त्यों ही वह हमसे दूर होता जावेगा। ऐसी स्थिति में हम व्यक्ति के अहंकार यानी 'मैं पन' को शरीर अथवा इन्द्रियों के सदुपयोग अथवा दुरुपयोग करने का उत्तरदायी ठहरा सकते हैं। यह 'मैं पन' मस्तिष्क में पड़े उन संस्कारों को कहते हैं जो प्रारम्भ से ही 'मैं पन' से कर्म करने के फलस्वरूप मस्तिष्क में नैसर्गिक ढंग से विद्यमान हो गये हैं। हैं तो ये स्मृति चिह्न किन्तु बोलने की भाषा में प्रायः हम इसे अहंकार कहते हैं और अज्ञान से इसे नामधारी व्यक्ति ही कह दिया करते हैं। यह अहंकार मन से कर्म करने के संकल्प उठाता है और बुद्धि से निर्णय देकर कर्म संपादित करता है। कर्म करते-करते यह अहंकार, जो है तो जीवन-रक्षिणी प्राणशक्ति का सेवक किन्तु स्वयं स्वामी बन जाता है और अपने मन, बुद्धि, शरीर तथा इन्द्रियों आदि को अपने आधीन मानने लगता है। बस, इस अहंकार की अनधिकार स्वामी बनने की चेष्टा समस्त अनर्थों की जड़ बन जाती है। यदि अहंकार अपनी स्वामिनी जीवन-रक्षिणी प्राणशक्ति के आदेशानुसार बरते तथा सदैव उसके रुख का ध्यान रखे तो कर्म करने में न तो दुःख होगा और न प्रतिकूल अथवा अनुकूल स्थिति में बहेगा। फलतः मस्तिष्क सदैव संतुलित रहेगा और काम भी उत्तमता से होते रह सकते हैं। किन्तु अहंकार अपनी स्वेच्छा से ही काम करना चाहता है। उसे सेवक बनना पसन्द नहीं। मालिक बने रहने में ही आनन्दित रहता है। प्रकृति का नियम है कि वह अपने नियमों का उल्लंघन होते हुए नहीं देख सकती। वह अहंकार कि अनधिकार चेष्टा को अधिक सहन नहीं करती। जैसे ही वह स्वामी बनने की अनधिकार चेष्टा करता है वैसे ही वह उसके मन जैसा काम करने नहीं देती। उसे हताश कर देती है। बेचारा अहंकार व्याकुल हो जाता है। उसे अपनी व्याकुलता दूर करने को कोई विधि नहीं सूझती। तब वह दूसरे लोगों की सम्मति लेता है। वस्तुतः उसे सम्मति देने वाले लोगों में अधिकांश व्यक्ति तो

उसी जैसे अहंकारी होते हैं। अतः उनकी सम्मति से उसे विशेष लाभ नहीं होता। तब उसका ध्यान उन लोगों की ओर जाता है जो उसे आध्यात्मिकता के सिद्धान्त बताते हैं, जिन पर चलकर वह अपनी व्याकुलता दूर करले और कर्म करते समय शांति का अनुभव कर सके।

प्रचलित आध्यात्मिक वातावरण में पहुँचकर स्वामी बना अहंकार कुछ राहत पाता है। उसकी दिशा पलट जाती है। पलटी हुई दिशा में उसके कर्म करने का ढंग बदल जाता है। वह प्रभु की प्रार्थना करता है। नाम का जप करता है। धार्मिक ग्रन्थों का पाठ करता है। भजन, कीर्तन, प्रातः संध्या आरती आदि करता है। किन्तु इन आध्यात्मिक कृत्यों को करने के बाद वह गिड़गिड़ाता है, अपनी दुर्दशा व्यक्त करता है और अपने कामों में सफलता चाहता है। कभी-कभी उसे सफलता भी मिल जाती है। यद्यपि यह सफलता प्रकृति की वैधानिक रीति से उसे प्राप्त हुई है पर उसे ऐसा ही अनुभव होता है कि उसके भजन, पूजन के फलस्वरूप ही उसे सफलता मिली है किन्तु सदैव सफलता न मिलने से उसे पुनः दुःख आ घेरता है। शनैः शनैः आध्यात्मिकता के कार्यों में भी वह सन्देहास्पद हो आता है। अब उसकी लगन में कमी आने लगती है। पूर्व जैसा उत्साह उसे नहीं रहता। कभी-कभी तो उसके भजन-पूजन आदि नियमानुसार करने पर भी लगातार असफलता पर असफलता मिलती है। असफलताओं से व्यथित होकर उसकी बुद्धि उचित निर्णय नहीं दे पाती और अब उसकी निष्ठा में भी स्पष्ट अन्तर अनुभव होने लगता है। अन्ततोगत्वा स्वामी बना अहंकार आध्यात्मिक क्षेत्र में रहकर भी न तो शान्ति पाता है और न हाथ में लिये कार्यों में मनचाही सफलता ही। उसे जीवनयापन करना दूभर हो जाता है। जिस प्रकार प्रायः साधु-सन्त संसार को जंजाल समझ कर त्याग देते हैं, दूसरों की कमाई खाकर अपने कर्मठपन को तिलाञ्जलि दे देते हैं उसी प्रकार की विचारधारा स्वामी बने नामधारी अहंकार की हो जाती है। फलतः होती तो है उसकी नैराश्यपूर्ण स्थिति तथा कायरता पूर्ण वैराग्य किन्तु वह उसे अपनी महान् त्यागवृत्ति समझता है और अन्य लोगों को भी उसी प्रकार आचरण करने को प्रेरित करता है। इस प्रकार दंभ के प्रसार में ही उत्तरोत्तर वृद्धि करता रहता है। अस्तु आध्यात्मिकता का सही रूप लुप्त हो रहा है और अज्ञान के कारण जीवन को सर्वांगीण विकास देने वाली युक्ति का ह्रास हो रहा है, जिससे मानवता, दानवता में परिणत हो गई है, अर्थ का अनर्थ हो गया है ।

अस्तु, आध्यात्मिकता का सही रूप समझना अत्यन्त आवश्यक है और उसका जीवन में किस प्रकार उपयोग किया जावे कि वह हमें निरन्तर उत्साहित करती रहे तथा

कर्म क्षेत्र में अपने कर्तव्य पालन को उत्तमता से कराते हुए मस्तिष्क को सदैव संतुलन में रख सके। अब यदि गम्भीरता से अहंकार अपनी वास्तविक स्थिति को समझने का प्रयास करे तो उसे चिन्तन करते-करते यह स्पष्ट होने लगेगा कि उससे प्रारम्भ में ही भूल हुई है। सम्भव है, प्रकृति का ऐसा ही विधान हो कि इस प्रकार भूल करके ही सुधार ठीक हो सके। सचमुच, भूल तो यह थी कि अहंकार ने अनधिकार चेष्टा करके अपने स्वामी का पद हड़प लिया। उसे इस बात का ध्यान ही नहीं रहा कि उसका स्वामी सामर्थ्यवान है। उसी के द्वारा दिये गये अंग उसके बर्तने के उपकरण हैं। उसने जिन-जिन लोगों की सम्मति मानी और उनके बताये हुए मार्गों को अपनाया उसका परिणाम उल्टा ही हुआ। जिन-जिन क्रियाओं को उसने बर्तना प्रारंभ किया उन-उन क्रियाओं में अहंकार का स्वामीपन बढ़ता ही गया। क्योंकि उसके भजन-पूजन आदि की समस्त क्रियाओं में 'मैं पन- ही सर्वेसर्वा था। यदि उसने नाम जपा तो उसे यही अनुभव होता था कि उसने ही जप किया है मानो कि जप करने की सामर्थ्य उसमें ही हो और उसे यह बिल्कुल विस्मृत हो गया कि वह तो सेवक है। उसके स्वामी की दी हुई समस्त शक्तियों तथा उपकरणें से उसके स्वामी द्वारा ही जप कराया गया है। वह तो केवल निमित्त मात्र है। इसी प्रकार यदि उसने आसन किये हैं, प्राणायाम किये हैं, मुद्राऐं लगाई हैं, उपवास किये हैं, यज्ञ किये हैं, दान आदि दिये हैं, धर्म का आचरण किया है अथवा धार्मिक ग्रन्थों का पठन मनन किया है, सभी से ही अहंकार की वृद्धि हुई है। किन्तु, संयोगवश उसकी भेंट ऐसे महापुरुषों से हुई जिन्हें अपनी शक्ति की अनुभूति थी। वे नित्य ही उस साधना में बैठते थे जिसमें वे कुछ नहीं करते थे। साधना की अवधि में उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव होता था कि प्रकृति ही सब कुछ क्रियायें कर रही है। साधक तो दृष्टावत् है। इस पद्धति में अहंकार को अनुभव होता है कि वह निमित्त मात्र है, कर्म का कर्ता नहीं है। शनैः शनैः उसे निमित्त बनकर कर्म करने का अभ्यास होने लगता है और कालान्तर में उसका अभ्यास पुष्ट हो जाता है तब साधक समस्त क्रियाओं को चाहे वे आध्यात्मिक हों अथवा सांसारिक, निमित्त बन कर ही करता है, जिससे उसमें कर्तापन का अभाव हो जाता है। चित्त में व्याकुलता का आना, अस्थिर हो जाना, मस्तिष्क का संतुलन न रहना आदि कर्तापन से काम करने का ही परिणाम है। अनुकूल अथवा प्रतिकूल स्थिति से ही सुख-दुःख आता है और सुख, हर्ष से तथा दुःख, विषाद से मस्तिष्क के संतुलन को गिरा देता है। यदि व्यक्ति निमित्त बना है तो वह सुख दुःख दोनों से ही अप्रभावित रहेगा। उसका मस्तिष्क संतुलित रहेगा ।

इन महापुरुषों की भेंट तथा उनसे किये गये सत्संग का यह फल हुआ कि निराश

साधक को अपनी शक्ति की अनुभूति करने की प्रबल इच्छा हुई और वह शक्ति सम्पन्न सद्गुरु की शरण में जाता है। सद्गुरु उसे भली प्रकार समझाते हैं कि वस्तुतः अपनी शक्ति ही सत्य सद्गुरु है। हम लोग तो साधक को शक्ति की अनुभूति मात्र करा देने में निमित्त हैं। शक्ति की अनुभूति उसी साधक को होती है जो शुद्ध अन्तःकरण से यानी अत्यन्त सच्चाई से शक्ति जो माँ के तुल्य रक्षक एवं पोषक है उसकी शरण में जाता है। शरण में जाने से यही तात्पर्य है कि साधक अपने को सदा के लिये शक्ति के समर्पण कर देता है यानी वह प्रातः काल निद्रा से उठकर शयन पर्यन्त तक उठने वाले विचारों को सब शक्ति के विचार हैं ऐसा समझेगा। अपने शरीर के सब अवयवों को शक्ति के ही समझेगा। जब उनसे काम लिया जावेगा तो उसे इसमें अत्यन्त प्रसन्नता होगी कि वह शक्ति के लिये ही उनसे काम ले रहा है। संक्षेप में, उसके समस्त उत्तरदायित्व शक्ति के ही उत्तरदायित्व हो जावेंगे जिनका कि पालन वह साधक से करा रही है। इस प्रकार निमित्त बनकर कार्य करने से उसे स्पष्ट अनुभव होगा कि प्रत्येक स्थिति में उसका मस्तिष्क संतुलित रहता है। शक्ति के लिये कार्य करने से उसकी विचारधारा में शक्ति के संस्कार ही उभरते रहेंगे जिससे समय-समय पर अनुभव होता रहेगा कि शक्ति के संवेदन उसके शरीर में उठते रहते हैं जिससे उसके चित्त में यह दृढ़ता आती जावेगी कि शक्ति ही उससे कार्य करा रही है और वह प्रसन्नता से शक्ति का कार्य कर रहा है। सचमुच, भक्त वही है जो अपने इष्ट के लिये ही निरन्तर कर्म करे। जिसका निजी कार्य कोई न हो। शक्ति ही वस्तुतः प्रभुसत्ता है और उसके लिये किये गये कर्म ही भक्त के कर्म हैं। निश्चय ही शक्ति की शरणागति से साधक 24 घंटे का ही शक्ति का भक्त हो गया। उसके समस्त कार्यों से भक्ति-भाव व्यक्त होगा ।

विवेचन से स्पष्ट है कि शक्ति के अनन्य भक्त के लिये प्रचलित आध्यात्मिक कर्मकाण्ड कोई विशेष महत्व नहीं रखते। दैनिक जीवन में किये जाने वाले समस्त कर्म शरणागत साधक के लिये प्रभुसत्ता के ही हैं। सम्भव है, प्रारम्भ में यही प्रणाली बरती जाती हो। हाँ यह भी सम्भव है, कि बच्चों को इस परम्परा को हृदयंगम कराने के लिये अन्तः के रहस्यों के प्रतीक स्वरूप बाहर की वस्तुओं को स्वीकार किया गया हो। जैसे हम अलग हैं हमारा शरीर हम से अलग है, समझाने के लिये यज्ञोपवीत (जनेऊ) बना हो। प्रत्येक व्यक्ति का शरीर अपने-अपने हाथों की अंगुलियों से 96 अंगुल का होता है। शरीर के प्रतीक 96 अंगुल का धागा लिया गया हो। आगे की 9 लड़ें की जाती हैं। 9 लड़ें शरीर के 9 दरवाजों के प्रतीक हैं – दो आँखें, दो कान, दो नासिका के छिद्र, मुख

एक, उपस्थ एक और जननेन्द्रिय एक। फिर बट कर तीन बल (तिवला) किया जाता है। तीन गुणों के यानी सत, रज, तम के प्रतीक तीन बलों को माना हो। फिर ऊपर तीन ग्रन्थियाँ लगाई जाती हैं जो इस विचारधारा को व्यक्त करती हैं कि इस शरीर के संकल्प उठते हैं, संकल्पों का पालन होता है और संकल्पों का अन्त होकर पुनः संकल्प उठते रहते हैं। ये ही गांठें हैं जिनमें मानव उलझा रहता है। संकल्पों को उत्पन्न, पालन और संहार करने वाली शक्तियों के प्रतीक ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र हैं। अतः इन ग्रन्थियों को ब्रह्म ग्रन्थि, विष्णु ग्रन्थि और रुद्र ग्रन्थि कहा जाने लगा हो। फिर दो छूछने निकले रहते हैं और एक-एक में एक-एक गांठ लगा देते हैं जो प्रकृति और पुरूष के प्रतीक हो सकती हैं। फिर सबसे ऊपर दोनों छोरों को मिलाकर एक ग्रन्थि लगाई जाती है जो केवल पुरुष की प्रतीक हो सकती है। इस प्रकार वह ब्रह्म सूत्र बना। सबसे ऊपर पुरुष के रूप में प्रभुसत्ता है। उससे प्रभावित उसकी प्रकृति है यानी पुरुष एक ही है। पुरुष और प्रकृति के मिलने पर दो रूप हुए (पुरुष और प्रकृति) फिर प्रकृति त्रिगुणात्मक है। त्रिगुण नव द्वारों से कार्य करते हैं। इस प्रकार सूत्र को जो धारण करता है उसकी यह विचारधारा सहज ही पुष्ट होने लगती है कि 'मैं' पृथक् हूँ और मेरा शरीर जो इस सूत्र के रूप में है मुझसे पृथक् है। जैसे सूत्र के टूट जाने से मेरा कुछ नहीं बिगड़ता वैसे ही इस शरीर के नाश हो जाने से मेरी भी कुछ हानि नहीं होगी। मैं सर्वथा इस शरीर से पृथक् हूँ ।

ऐसे ही यह समझाने के लिये कि हमारे प्रत्येक कार्य शक्ति के लिये ही किये जाते हैं उन्होंने शक्ति के प्रतीक एक मूर्ति बना ली हो और उसके माध्यम से यह तथ्य बालकों के जीवन में उतारते हों कि उनके हाथ, पैर वस्तुतः उनके नहीं शक्ति के रूप में परमात्मा के हैं। हमें उनसे परमात्मा के लिये ही काम करना चाहिये। चूंकि परमात्मा दिखलाई तो देता नहीं अतः कोई प्रतिमा को परमात्मा का प्रतीक मान कर बालकों से उनके सब काम कराये जाते हों जैसे हाथ-मुख धुलवाना, दांतुन करवाना, स्नान करवाना, भोजन करवाना, विश्राम करवाना आदि। प्रतिमा के निमित्त से बालकों को यह समझाया जाता होगा कि चूंकि उनके हाथ, पैर, मुख, कान, नाक, जिह्वा आदि सभी कुछ उन्होंने नहीं बनाया है, उसको बनाने वाली परमात्मा की प्रकृति है अतः हम अपने हाथ, पैर, जिह्वा आदि का उपयोग परमात्मा की प्रकृति के लिये किया करें। इस प्रकार बालकों को परमात्म शक्ति की शरण में रहकर उसके लिये ही कर्म करने का अभ्यास कराया जाता होगा। सम्भवतः यह प्रशिक्षण की प्रणाली ही आगे चलकर कर्मकाण्ड में परिणत हो गई हो। और कालान्तर में ऐसी शक्तिशाली बन गई कि उसका मूल विचार तो प्रायः लुप्त हो गया और

प्रशिक्षण प्रणाली ही सब कुछ हो गई। परमात्मतत्व की प्रत्येक प्रतिमा, परमात्मतत्व ही बन गई। फलतः लोग और भी अधिक अज्ञान में फँस गये। और ऐसे फँस गये कि अब उनका निकलना असंभव नहीं तो महान् कठिन अवश्य हो गया, यहाँ तक कि परमात्मतत्व की शुद्ध चर्चा तो प्रायः लोगों को समझ में ही नहीं आती। हमें ही लोगों के स्तर पर उतरना होता है और उनके कर्मकाण्डों को सुरक्षित रखते हुए ही वास्तविकता की थोड़ी बहुत चर्चा मात्र करके संतोष करना होता है ।

विवेचन से स्पष्ट है कि धार्मिक कर्मकाण्ड, आत्मज्ञान नहीं, वरन् आत्मज्ञान समझाने की एक युक्ति है और यह युक्ति केवल बालबुद्धि वाले लोगों के लिये है। विवेकशील लोगों के लिये इसकी नितान्त आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। व्यक्ति को वास्तव में दैनिक जीवन व्यतीत करने के लिये प्रत्येक काम करते समय मस्तिष्क को संतुलित रखना परमावश्यक है। और मस्तिष्क संतुलित रहता है उसी का जो प्रभुसत्ता को स्वामी समझता है और स्वयं को उसका सेवक, यानी वह केवल निमित्त बनकर करता है, कर्त्ता बनकर नहीं। इस तथ्य को सदैव मस्तिष्क में स्थिर रहने के लिये प्रभुसत्ता की अनुभूति मात्र आवश्यक है जिस साधक को शक्ति की अनुभूति होती है वह उसके अस्तित्व को सदैव ही सर्वत्र अपने शरीर के अन्दर अनुभव कर सकता है। स्मरण मात्र से उसके स्फुरण की अनुभूति हो जाती है। उसे विशेष प्रार्थना आदि करने की कोई आवश्यकता नहीं। अस्तु, प्रभुसत्ता की अनुभूति एक बार हो जाना ही पर्याप्त है। अभ्यास से दृढ़ता अवश्य आती है। अनुभूति करने के लिये बार बार शक्ति से विनय करने की आवश्यकता नहीं। उसकी उपस्थिति की अनुभूति दिनभर ही शरणागत साधक को होती रहती है। उसकी उपस्थिति की स्मृति उसे निमित्त बन कर काम करने में सहायता देती है। साधक काम करता जाता है और भीतर ही भीतर अनुभव भी करता जाता है कि प्रभुसत्ता उसके मस्तिष्क में बैठी बैठी सब काम उससे करवा रही है। हाँ, यह सत्य है कि साधकों को कोई प्रतिमा या आकार नहीं दिखाई देता केवल उसे प्रभुसत्ता की उपस्थिति के विचार आते रहते हैं, जिनसे उसे शक्ति के द्वारा किये गये संवेदन यत्रतत्र शरीर में उत्पन्न होते अनुभव होते हैं ।

अस्तु, वास्तविकता तो यह है कि आध्यात्मिकता कहो या प्रभुसत्ता की महत्ता कहो बात एक ही है। इसकी पृथक् से न तो कोई उपासना है और न पृथक् से कोई उपासना करना आवश्यक है। वह तो केवल तथ्य की स्मृति है। जिसकी उपयोगिता प्रत्येक कार्य करते हुए ही स्मरण रखने में है, जिससे हम अपने को कर्म के कर्त्ता न समझ

पायें, निमित्त बने रहें। और यह स्मृति है भी परमावश्यक। क्योंकि, पूर्व अर्जित कर्तापन के संस्कार मस्तिष्क में प्रचुर मात्रा में भरे हुए हैं। वे साधक को क्षण-क्षण में विचलित कर देते हैं। किन्तु प्रभुसत्ता के स्मरण मात्र से कर्त्तापन के संस्कार प्रभावहीन होने लगते हैं और साधक सम्हल जाता है। वस्तुतः प्रभुसत्ता की स्मृति साईकल में लगे ब्रेकों के समान है जिन्हें यात्रा के समय साईकल में लगे रहना ही आवश्यक है। ब्रेकों को पृथक् रखकर उनकी पूजा या उपासना हास्यास्पद है। साधक को यात्रा के समय जहाँ भीड़ दिखी या सड़क पर उतार आया अथवा अन्य खतरा उपस्थित हुआ कि वह उसी समय ब्रेकों को प्रयोग में लायेगा और साईकल से अपने को सम्हाल लेगा, जिससे वह गिर न जावे अथवा किसी से भिड़ न जावे। ऐसे ही जहाँ कर्तापन के संस्कार साधक को उभरे कि साधक को तत्काल स्मरण होना चाहिये कि अब बुद्धि को विचलित होने का खतरा है तब तत्काल उसे अपने निमित्त मात्र होने के विचारों को स्मरण करने लगना चाहिये। जैसे ब्रेक लगाते ही साधक साईकल से गिरने से संभल जाता है वैसे ही अपने निमित्त मात्र होने के विचारों को स्मरण करते ही साधक विचलित होने से संभल जावेगा। निश्चय ही, प्रभुसत्ता की स्मृति के लिये प्रार्थनाऐं, उपासनाऐं नहीं हैं, बल्कि प्रतिक्षण जीवन के प्रत्येक कार्य करते समय प्रभुसत्ता स्मरण करने के लिये है। हाँ, कुछ समय के उपरान्त साधक को बार बार स्मरण करने की आवश्यकता भी नहीं पड़ेगी। उसका निमित्त होने का संस्कार मस्तिष्क में दृढ़ हो जावेगा। फलतः बिना स्मरण किये हुए भी उसका प्रत्येक कार्य निमित्त बने हुए ही होगा। उसके विशेष प्रयास की आवश्यकता नहीं रहेगी। साधक जगत के बड़े से बड़े कार्य करने में कठिनाई अनुभव न करेगा, उसे उत्साह बना ही रहेगा। उसका मस्तिष्क संतुलन में रहेगा। अस्तु, आध्यात्मिकता कहिये अथवा प्रभुसत्ता की अनुभूति कहिये जगत के व्यापार करने के लिये अनुपम युक्ति है, यह ध्रुव सत्य है ।

प्रशिक्षण प्रणाली ही सब कुछ हो गई। परमात्मतत्व की प्रत्येक प्रतिमा, परमात्मतत्व ही बन गई। फलतः लोग और भी अधिक अज्ञान में फँस गये। और ऐसे फँस गये कि अब उनका निकलना असंभव नहीं तो महान् कठिन अवश्य हो गया, यहाँ तक कि परमात्मतत्व की शुद्ध चर्चा तो प्रायः लोगों को समझ में ही नहीं आती। हमें ही लोगों के स्तर पर उतरना होता है और उनके कर्मकाण्डों को सुरक्षित रखते हुए ही वास्तविकता की थोड़ी बहुत चर्चा मात्र करके संतोष करना होता है ।

विवेचन से स्पष्ट है कि धार्मिक कर्मकाण्ड, आत्मज्ञान नहीं, वरन् आत्मज्ञान समझाने की एक युक्ति है और यह युक्ति केवल बालबुद्धि वाले लोगों के लिये है। विवेकशील लोगों के लिये इसकी नितान्त आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। व्यक्ति को वास्तव में दैनिक जीवन व्यतीत करने के लिये प्रत्येक काम करते समय मस्तिष्क को संतुलित रखना परमावश्यक है। और मस्तिष्क संतुलित रहता है उसी का जो प्रभुसत्ता को स्वामी समझता है और स्वयं को उसका सेवक, यानी वह केवल निमित्त बनकर करता है, कर्त्ता बनकर नहीं। इस तथ्य को सदैव मस्तिष्क में स्थिर रहने के लिये प्रभुसत्ता की अनुभूति मात्र आवश्यक है जिस साधक को शक्ति की अनुभूति होती है वह उसके अस्तित्व को सदैव ही सर्वत्र अपने शरीर के अन्दर अनुभव कर सकता है। स्मरण मात्र से उसके स्फुरण की अनुभूति हो जाती है। उसे विशेष प्रार्थना आदि करने की कोई आवश्यकता नहीं। अस्तु, प्रभुसत्ता की अनुभूति एक बार हो जाना ही पर्याप्त है। अभ्यास से दृढ़ता अवश्य आती है। अनुभूति करने के लिये बार बार शक्ति से विनय करने की आवश्यकता नहीं। उसकी उपस्थिति की अनुभूति दिनभर ही शरणागत साधक को होती रहती है। उसकी उपस्थिति की स्मृति उसे निमित्त बन कर काम करने में सहायता देती है। साधक काम करता जाता है और भीतर ही भीतर अनुभव भी करता जाता है कि प्रभुसत्ता उसके मस्तिष्क में बैठी बैठी सब काम उससे करवा रही है। हाँ, यह सत्य है कि साधकों को कोई प्रतिमा या आकार नहीं दिखाई देता केवल उसे प्रभुसत्ता की उपस्थिति के विचार आते रहते हैं, जिनसे उसे शक्ति के द्वारा किये गये संवेदन यत्रतत्र शरीर में उत्पन्न होते अनुभव होते हैं ।

अस्तु, वास्तविकता तो यह है कि आध्यात्मिकता कहो या प्रभुसत्ता की महत्ता कहो बात एक ही है। इसकी पृथक् से न तो कोई उपासना है और न पृथक् से कोई उपासना करना आवश्यक है। वह तो केवल तथ्य की स्मृति है। जिसकी उपयोगिता प्रत्येक कार्य करते हुए ही स्मरण रखने में है, जिससे हम अपने को कर्म के कर्त्ता न समझ

पायें, निमित्त बने रहें। और यह स्मृति है भी परमावश्यक। क्योंकि, पूर्व अर्जित कर्तापन के संस्कार मस्तिष्क में प्रचुर मात्रा में भरे हुए हैं। वे साधक को क्षण-क्षण में विचलित कर देते हैं। किन्तु प्रभुसत्ता के स्मरण मात्र से कर्त्तापन के संस्कार प्रभावहीन होने लगते हैं और साधक सम्हल जाता है। वस्तुतः प्रभुसत्ता की स्मृति साईकल में लगे ब्रेकों के समान है जिन्हें यात्रा के समय साईकल में लगे रहना ही आवश्यक है। ब्रेकों को पृथक् रखकर उनकी पूजा या उपासना हास्यास्पद है। साधक को यात्रा के समय जहाँ भीड़ दिखी या सड़क पर उतार आया अथवा अन्य खतरा उपस्थित हुआ कि वह उसी समय ब्रेकों को प्रयोग में लायेगा और साईकल से अपने को सम्हाल लेगा, जिससे वह गिर न जावे अथवा किसी से भिड़ न जावे। ऐसे ही जहाँ कर्तापन के संस्कार साधक को उभरे कि साधक को तत्काल स्मरण होना चाहिये कि अब बुद्धि को विचलित होने का खतरा है तब तत्काल उसे अपने निमित्त मात्र होने के विचारों को स्मरण करने लगना चाहिये। जैसे ब्रेक लगाते ही साधक साईकल से गिरने से संभल जाता है वैसे ही अपने निमित्त मात्र होने के विचारों को स्मरण करते ही साधक विचलित होने से संभल जावेगा। निश्चय ही, प्रभुसत्ता की स्मृति के लिये प्रार्थनाऐं, उपासनाऐं नहीं हैं, बल्कि प्रतिक्षण जीवन के प्रत्येक कार्य करते समय प्रभुसत्ता स्मरण करने के लिये है। हाँ, कुछ समय के उपरान्त साधक को बार बार स्मरण करने की आवश्यकता भी नहीं पड़ेगी। उसका निमित्त होने का संस्कार मस्तिष्क में दृढ़ हो जावेगा। फलतः बिना स्मरण किये हुए भी उसका प्रत्येक कार्य निमित्त बने हुए ही होगा। उसके विशेष प्रयास की आवश्यकता नहीं रहेगी। साधक जगत के बड़े से बड़े कार्य करने में कठिनाई अनुभव न करेगा, उसे उत्साह बना ही रहेगा। उसका मस्तिष्क संतुलन में रहेगा। अस्तु, आध्यात्मिकता कहिये अथवा प्रभुसत्ता की अनुभूति कहिये जगत के व्यापार करने के लिये अनुपम युक्ति है, यह ध्रुव सत्य है ।

एक ही लक्ष्य और एक ही मार्ग

प्राय: विद्वान् मनीषियों का बहुमत जिन्हें आध्यात्मिकता में विशेष रुचि होती है, विविध उपासनाओं के पक्ष में होता है। वे कहते हैं कि जैसे पर्वत का शिखर एक ही होता है पर उस तक पहुँचने को चारों ओर मार्ग हुआ करते हैं, पर्वतारोही जिस ओर से शिखर पर चढ़ना चाहे वह उधर से ही शिखर पर पहुँच सकता है, वैसे ही आध्यात्मिक पथ अनेक हो सकते हैं, किन्तु उन सबका गन्तव्य स्थान एक ही होता है। इस प्रकार परमात्मा की प्राप्ति के लिये ज्ञान मार्ग, भक्ति मार्ग तथा कर्म मार्ग सभी अपने-अपने स्थान पर ठीक हैं। ज्ञान प्राप्ति के लिये प्राय: निराकार उपासना पर अधिक बल दिया जाता है। देहाभिमान आदि को दूर करने के लिए ब्रह्मसूत्र, पंचदशी, विवेकचूड़ामणि, वैराग्यशतक, श्रीमद्भगवद्गीता, उपनिषदों के ज्ञानखंड की पुस्तकों आदि में वर्णित पद्धतियों को अपनाने के लिये प्रेरित किया जाता है। भक्ति की दृष्टि में श्रीमद्भागवत, सूरसागर, रामचरितमानस तथा भक्तिमार्ग की अन्य पुस्तकों आदि में सुझाई गई विधियों को जीवन में उतारने के लिये प्रेरणा दी जाती है। कर्म की दृष्टि से यम, नियम आदि तथा धर्मशास्त्र को महत्व दिया जाता है। वैदिक रीतियों पर चलना हितकर बताया जाता है। कुछ मनीषियों के मत से ज्ञान, भक्ति तथा कर्ममार्ग तीनों ही अपनाने योग्य हैं। उनकी दृष्टि से अन्त:करण शुद्ध करना परमधर्म है। शुद्ध अन्त:करण से ही परमात्मा को प्राप्त किया जा सकता है। अन्त:करण शुद्ध करने के लिये उनके मत से यज्ञ करना, जप करना, धार्मिक ग्रन्थों का स्वाध्याय करना, भगवान के विग्रहों का पूजन करना, उपवास रखना, संध्या वन्दन करना, कीर्तन करना, आरती करना, प्रभु की प्रार्थनायें करना, उनके गुणों की चर्चा करना आदि को प्रधानता दी जाती है ।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि चाहे मार्ग कोई भी हो पर सबका लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति ही है। अब विचारणीय है कि क्या परमात्मा हमारी किसी भी उपासना से प्राप्त किया जा सकता है? क्या हमारे प्रयास उसे प्राप्त करने के लिए आवश्यक हैं ? इन प्रश्नों को सुलझाना महान् कठिन है। तब यह प्रश्न खड़ा होता है कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि परमात्मा प्राप्त हो ही नहीं सकता। हमें उसके प्राप्त करने की प्रेरणा देने वालों ने स्वयं भी परमात्मा का दर्शन किया ही न हो। लोगों की बात सुन-सुन कर अथवा परमात्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति न करने वाले अथवा अनुभूति के लिये केवल प्रयास करने वाले लोगों की विचारधारा से प्रभावित होकर हम भी बिना समझे बूझे अँधेरे में परमात्मा को ढूंढ़ने

के लिये चल पड़े हैं। एक बार मैं सत्संग में प्रवचन कर रहा था। प्रवचन में मैंने सम्भव है, ऐसा कह दिया हो कि परमात्मा को आँखों से नहीं देखा जा सकता। एक माननीय महोदय ने कुछ सत्संग प्रेमियों से सत्संग हो जाने के उपरान्त कहा कि ''आपके महात्माजी कहते हैं कि परमात्मा का आँखों से दर्शन नहीं होता। हमारे महाराज पंजाब में रहते हैं। वे तो पांच मिनिट में ही परमात्मा के दर्शन करा देते हैं।'' तब उन सत्संग प्रेमियों में से कुछ ने इच्छा प्रकट की कि ''आपके महाराज यदि पंजाब से यहाँ आ सकते हों तो उनके आने में जो कुछ भी व्यय होगा हम उसे देने को तैयार हैं। आप कृपा करके उन्हें यहाँ लिवा लायें। और यदि वे यहाँ नहीं आ सकते तो हम स्वयं पंजाब चल सकते हैं और उनकी कृपा से परमात्मा का दर्शन कर कृतार्थ हो सकते हैं।'' इस पर वे महोदय बोले, ''क्या हम आपके महाराजजी से मिल सकते हैं?'' सत्संग प्रेमी बोले, 'वे तो एक कुटी में रहते हैं। कुटिया के द्वार पर एक टाट का पर्दा पड़ा रहता है, किवाड़ भी नहीं हैं। आप चाहें जब मिल सकते हैं।'' इस चर्चा की भनक मेरे कानों में भी पड़ गई थी। दूसरे दिन वे माननीय सज्जन कुटी पर अपने साथियों के साथ पधारे। औपचारिक बातों के बाद उन्होंने मुझसे पूछा कि ''महाराज, क्या आपके मत से परमात्मा को आँखों से देखा जा सकता है या नहीं?'' मैंने उन सज्जन से प्रश्न किया ''जिस परमात्मा को आप आँखों से देखने का उल्लेख करते हैं उसकी आपकी दृष्टि में परिभाषा क्या है ?'' उन्होंने कहा, परमात्मा सर्व शक्तिमान् है, सर्वज्ञ है, सर्वत्र व्याप्त है तथा उसकी सत्ता के बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता'' इस उत्तर को सुनकर मैंने पुनः उनसे पूछा कि ''अब आप कृपा करके यह बतलाइये कि परमात्मा का दर्शन करने वाला व्यक्ति जीवित है अथवा मृतक। यदि जीवित है तो बिना परमात्मा की आंशिक सत्ता के वह जीवित नहीं रह सकता। जिसके आधार से वह जीवित है उस आधार को यदि वह आँखों से देखना चाहता है तो वह जीवित रह ही नहीं सकता। जब परमात्मा की सत्ता के एक अंश को ही देखा नहीं जा सकता तो सम्पूर्ण परमात्मतत्व को कैसे देखा जा सकता है? यदि कोई दुस्साहस कर अपनी आधार भूत सत्ता के अंश को छोड़ अन्य समस्त प्राणीमात्र की आधारभूत सत्ता को देख ले तो भी अधूरे परमात्मा का ही तो दर्शन होगा, पूरे का कदापि नहीं। यदि दर्शन करने वाला व्यक्ति मृतक है तो मृतक का दर्शन करना या न करना कुछ अर्थ नहीं रहता।'' इस तर्क का उन्होंने कोई उत्तर न दिया। मैंने कहा ''इस प्रकार के प्रश्न गूढ़ होते हैं। बहुत मनन करने की आवश्यकता है। साथ ही आप अपने मित्रों के साथ हैं यदि आप अकेले होते तो और अधिक भी विचार कर सकते थे।'' इस पर उन माननीय सज्जन ने कहा, ''हाँ, ठीक है। मैं फिर आपसे मिलूंगा।'' ऐसा कहकर प्रणाम कर मित्रों के साथ चले गये। मैं बाद

को प्रतीक्षा ही करता रहा पर पुनः वे बात करने नहीं आये।

सचमुच, आधारभूत सत्ता कभी भी आँखों से नहीं देखी जा सकती न उसके सम्बन्ध में स्पष्ट जानकारी दी जा सकती। हाँ, उसकी कल्पना से ही संतोष करना होता है। जो सत्ता हम में व्याप्त है उसे आँखों से हम देख ही कैसे सकते हैं ? यदि व्यक्ति स्वयं अपने को ही देखना चाहे तो वह अपने को ही नहीं देख सकता तो फिर व्याप्त सत्ता जिसे परमात्मसत्ता कहते हैं और जो अत्यन्त सूक्ष्म है उसे कैसे देखा जा सकता है ? जैसे एक व्यक्ति जिसका नाम देवव्रत है, जिसे सब लोग देवव्रत ही कहकर बुलाते हैं और वह देवव्रत नाम से ही अपने को जानता है। वह देवव्रत कौन है इसे स्वयं देवव्रत नहीं जान सकता। यदि देवव्रत अपने शरीर को अपना शरीर कहता है तो देवव्रत अपने को पृथक् पावेगा और अपने शरीर को पृथक्। बिना शरीर के पृथक् समझे हुए वह अपने शरीर को अपना कह ही नहीं सकता। ऐसे ही यदि वह अपने विचारों को अपने कहता है तो अपने विचारों से भी पृथक् है यदि वह अपनी शक्ति को जिसके कि आधार पर उसके शरीर की समस्त संचालन व्यवस्था घटित होती है अपनी कहता है तो उसकी शक्ति से भी उसे पृथक् होना चाहिये। इस प्रकार यदि वह अपने मन को अथवा अपनी बुद्धि को भी अपनी कहता है तो निश्चय ही उसे अपने मन से तथा अपनी बुद्धि से भी पृथक् होना चाहिये। अब जब वह अपनी समस्त शरीर की संचालन व्यवस्था से अपने को पृथक् समझता है तो उसे अपना अस्तित्व सबसे पृथक् अनुभव होगा। किन्तु वह अपने को बिल्कुल अलग आँखों से देख नहीं सकता, केवल बुद्धि से ही समझ सकता है। साथ ही उसे अपनी समस्त शारीरिक या मानसिक व्यवस्था की अधिक से अधिक जानकारी भी होती है। अतः अब यह कहना असंगत नहीं कि वह अपने शरीरादि से तो पृथक् है किन्तु वह साक्षीवत् अपने शरीर की सब बातों की, जहाँ तक कि उसकी बुद्धि चलती है, जानकारी रखता है। अब यदि वह यह प्रश्न मन ही मन करे कि क्या उसके इस साक्षीवत् अस्तित्व का उसे पता है ? तो उसे स्पष्ट अनुभव होगा कि इस स्थिति की जानकारी लेने के लिये उसे अपने साक्षीवत् अस्तित्व का भी साक्षी होना पड़ेगा। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों वह अपने साक्षीवत् अस्तित्व की जानकारी करने लगेगा त्यो-त्यों ही वह अपने को प्रत्येक साक्षीवत् अस्तित्व से पृथक ही पृथक् अनुभव करता रहेगा। हाँ, यह सब बुद्धि का विषय है, आँख का नहीं। कल्पना में उसे अपने सब अस्तित्व धुँधले से अनुभव होंगे जो वर्णनातीत होंगे। किन्तु यदि वह चाहे कि उसका अन्तिम अस्तित्व कौन सा है ? तो वह कितना ही प्रयास करे उसे अपना अन्तिम अस्तित्व अनुभव में आवेगा ही नहीं और अन्त में यही कह कर

संतोष करना होगा कि उसे अपने अंतिम स्वरूप की रूपरेखा का पता ही नहीं चल सकता। केवल काल्पनिक आभास उसे यह अवश्य होगा कि उसका अस्तित्व अवश्य है। जब देवव्रत को अपना ही अस्तित्व अज्ञात है तो वह उस अस्तित्व को जो प्राणीमात्र में व्याप्त है कैसे जान सकता है ? केवल उसकी कल्पना मात्र ही रहेगी कि उसका अस्तित्व तो अवश्य है किन्तु उसकी जानकारी उसकी बुद्धि से परे है। ऐसे ही प्रत्येक व्यक्ति स्वयं भी अनुभव कर सकता है और उसे भी इसका विश्वास हो जावेगा कि सर्वव्यापकसत्ता का अस्तित्व अवश्य होना चाहिये किन्तु उसकी प्रत्यक्ष जानकारी व्यक्ति कदापि नहीं कर सकता। उसे कहना पड़ेगा कि सर्वव्यापकसत्ता मन, बुद्धि, प्राणी आदि से अतर्क है ।

यदि एक व्यक्ति की इस सत्ता को जो प्रत्यक्ष रूप से है तो अज्ञात किन्तु काल्पनिक रूप से जिसका आभास होता है उसे हम आत्मा यानी अपना रूप कह सकते हैं तो प्राणीमात्र की सम्मिलित अविभाजित सत्ता को परमात्मा कहा जा सकता है। विवेचन से स्पष्ट है कि परमात्मा का अस्तित्व तो अवश्य है किन्तु वह सदैव ही अज्ञात रहेगा। उसके काल्पनिक आभास मात्र से ही हमें सन्तोष करना होगा। हाँ, उसके काल्पनिक आभास का हम अपने जीवन में सदुपयोग कर सकते हैं तो हम प्रसन्नतापूर्वक कर सकते हैं। उदाहरणार्थ मस्तिष्क को संतुलन में लाने के लिये परमात्मतत्व का अनुकरण अमोघ युक्ति है। परमात्मतत्त्व में कर्त्तापन नहीं। यदि हमारा मस्तिष्क झंझटों में उलझा है और हम परमात्मा का अनुकरण करने लगें यानी हम अपने मन में यह सोचने लगें कि हम कर्म के कर्ता नहीं, कर्म की कर्ता प्रकृति है तो कर्तापन का भाव हटते ही तुरन्त थोड़ी देर के लिये हमारा मस्तिष्क संतुलन में आ जावेगा ।

अब विचारणीय है कि शक्ति की अनुभूति से पूर्व तो मैं अविवेक से अपने संस्कारानुसार पूजा, भजन करता था। जिस वातावरण में पला था उसी वातावरण से प्रेरित हुआ मैं भगवान को अपनी इच्छाओं की पूर्ति का साधन मात्र समझता था। किन्तु शक्ति की अनुभूति के उपरान्त उत्तरोत्तर समझ में विकास होने लगा। परमात्मा मुझे एक व्यापक सत्ता अनुभव होने लगी और अहंकार में यह क्षमता अनुभव हुई कि वह अपने उत्तरदायित्व की वृद्धि करते-करते समस्त जगत के प्राणियों को ही अपना परिवार समझ सकता है और यथाशक्ति उनके हित की भावना में डूबा रह सकता है। इस स्थिति में अहंकार शक्त्यानुसार भगवान के समान ही आचरण कर सकता है। अन्त में मैं इस परिणाम पर पहुँचा कि शक्ति ही वस्तुतः मेरी स्वामिनी है और मैं हूँ उसका सेवक। हाँ, आधारभूत सत्ता तो परमात्मतत्व ही है जिससे प्रभावित होकर शक्ति मेरे अहंकार से कार्य

करातीहै। ज्ञान, अज्ञान दोनों ही अहंकार के धर्म हैं। ज्ञान से अहंकार जीवन मुक्त स्थिति पर पहुंच जाता है और अज्ञान से वह भ्रम में पड़ा हुआ संसार के सुख-दुःख में फँसा रहता है।

संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति का स्वरूप तीन मोटे-मोटे तत्वों में विभक्त है परमात्मतत्त्व, शक्तितत्त्व और अहंकारतत्त्व। परमात्मतत्त्व सर्वत्र व्याप्त आधारभूत सत्ता है। इससे प्रभावित सत्ता शक्तितत्त्व है जो विश्व के प्राणियों की उत्पत्ति, पालन और संहार की क्रिया का उत्तरदायी है। यह शक्तितत्त्व स्वयं कुछ न करते हुये अहंकारतत्त्व के द्वारा समस्त व्यापार कराता है। सारांश यह है कि आधारभूत सत्ता जिसे परमात्मतत्त्व कहा जाता है उसका अस्तित्व ऐसे ही है जैसे राज्यसत्ता का अस्तित्व और शक्तितत्त्व का अस्तित्व है जैसे राष्ट्रपति से लेकर छोटे से छोटे पदाधिकारी की सत्ता और अहंकार का अस्तित्व है राष्ट्रपति से लेकर छोटे से छोटे पदाधिकारी की 'मैं पन' से काम करने की क्षमता। इन तीनों तत्त्वों में राज्यसत्ता की आराधना की आवश्यकता ही नहीं है। चाहे आराधना की जावे अथवा नहीं वह तो व्याप्त रहेगी ही, उसका धर्म ही है। एक छोटे से छोटे पद का सिपाही भी राज्यसत्ता से काम करता है। वह अपने को सरकारी व्यक्ति समझता है। यद्यपि उसने सरकार को देखा तक भी नहीं, किन्तु ''मैं सरकारी आदमी हूँ'' कहने में गर्व अनुभव करता है। यही बात समस्त पदाधिकारियों पर भी लागू होगी। अतः सरकार का साक्षात्कार करना या सरकार को प्राप्त करना यह किसी का भी लक्ष्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार यदि हम परमात्मा का साक्षात्कार करने को अथवा परमात्मतत्त्व को प्राप्त करने को अपना लक्ष्य बनावें तो बुद्धिसंगत नहीं, हमारा अज्ञान ही प्रकट होगा। निश्चय ही परमात्मतत्त्व की अपेक्षा शक्तितत्त्व जो हमारी संरक्षक प्रेरक शक्ति है वही हमारी उन्नति की प्रमुख सत्ता है। चूंकि उत्पत्ति, पालन और संहार कर पुनः उत्पन्न करने की क्षमता यही शक्ति रखती है, अतः जीवनदातृ इसी शक्ति की, जीवनयापन के लिए अनुभूति करना वास्तव में हमारे जीवन का लक्ष्य होना चाहिये जिससे हमारी उत्तरोत्तर प्रगति में हमारे अहंकार को उचित मार्गदर्शन एवं प्रेरणा मिलती रहे। अस्तु, प्रत्येक विचारशील व्यक्ति के जीवन का एक मात्र लक्ष्य अपनी शक्ति की अनुभूति करना ही बुद्धि संगत प्रतीत होता है ।

ठीक लक्ष्य के निर्धारित होने पर लक्ष्य की प्राप्ति का भी कोई निश्चित मार्ग होना चाहिए जिस पर चलकर हम लक्ष्य को सुगमता से प्राप्त कर सकें हमें भटकना न पड़े और जिसे बदलने की भी आवश्यकता न हो। मार्ग की बदला बदली में हताश भी न

होना पड़े, समय भी व्यर्थ न जावे। यह बात अब भली प्रकार हृदयंगम हो चुकी है कि हमारा अहंकार यानी 'मैं पन' तो है सेवक और स्वामिनी है हमारी माँ के सदृश सदैव हमारे हित में तत्पर शक्ति जो 'कुंडलिनी' नाम से विख्यात है। यह तथ्य दैनिक ही अनुभव में आता है कि हम भोजन स्वेच्छा से करने बैठते हैं। यदि स्वाद से अधिक खाना चाहें तो हमें भीतर से ऐसा लगता है कि कोई कह रहा है अधिक मत खाओ नहीं तो बीमार पड़ जाओगे। ऐसे ही प्रत्येक काम करते समय इन्द्रियों का दुरुपयोग करते ही हमें कोई सावधान अवश्य करता है कि 'ऐसा मत करो' उसकी अवहेलना करने पर हमें दुःख उठाना पड़ता है। जो हमें सावधान करता है वह ही स्वामी है और हम हैं सेवक। सेवक का धर्म है स्वामी के लिए काम करना। जैसे एक मजदूर को घास छीलने का काम उसका स्वामी देता है। वह उसे घास छीलने के यंत्र खुरपी आदि भी दे देता है। किन्तु घास छीलने का काम तो मजदूर अपनी बुद्धि से ही करेगा। हाँ, घास छीलेगा स्वामी के ही लिये। यदि मजदूर लापरवाही करता है और खुरपी आदि का दुरुपयोग करता है तो स्वामी मजदूर को डांटेगा और उसे यन्त्रों को उचित रीति से बर्तने को कहेगा और उसे भी सजग करेगा कि वह काम करने में असावधानी न बरते और यदि मजदूर यंत्रों को सावधानी से बर्तता है तथा स्वयं भी लगन से मालिक का काम करता है तो निश्चय ही मालिक उससे प्रसन्न रहेगा। और उसकी उत्तरोत्तर उन्नति होती रहे इसका ध्यान रखेगा। यदि मजदूर सच्चाई से मालिक के लिये काम करता है और ईमानदारी से दिये हुए काम में लगा भी रहता है किन्तु उसकी बुद्धि जैसी चाहिये वैसा कर्म करने की क्षमता नहीं रखती जिससे मालिक का काम उससे ठीक नहीं हो पाता तो स्वामी जिस कार्य में उसकी बुद्धि योग दे वैसा कार्य उसे करने को देता है और शनैः शनैः उसके स्तर को बढ़ाता जाता है । अन्त में उसको उच्च स्तर पर ला देता है। साथ ही उसके स्तर के अनुसार उसे उत्तरदायित्व भी दे देता है एवं उसके कर्मक्षेत्र को भी विस्तृत कर देता है। यही स्थिति व्यक्तिगत अहंकार की है जो सेवक के सदृश होता है। उसकी स्वामिनी कुंडलिनी शक्ति है जो अहंकार को प्रशिक्षण देकर उठाती है और अन्त में उसको उच्च स्तर पर ला देती है। ध्यान रहे कि सेवक का हित सेवक बने हुए, स्वामी का काम करते हुए रहने में ही है किन्तु प्रायः अज्ञान से सेवक स्वामी बनने की अनधिकार चेष्टा करने लगता है। स्वामी बनते ही उसे अशान्ति आ घेरती है। सम्भव है, भौतिक सम्पदायें उसके पास प्रचुर मात्रा में एकत्रित भले ही होने लगें किन्तु वे उसे शान्ति प्रदान नहीं करतीं। व्यक्ति का अभिमान ही उत्तरोत्तर वृद्धि करने लगता है 'मैं, मैं' का बोलबाला हो जाता है। चढ़ाव के बाद उतार आना नैसर्गिक है। अतः शनैः शनैः वह गिरने लगता है और अन्त में उसे अपनी भूल स्वीकार करनी पड़ती

है और स्वामी की शरण में जाना होता है। शरणागत होते ही अहंकार का स्वामीपन दबने लगता है और वह पुनः स्वामी के लिये समस्त कर्म करने लगता है। सेवकवत् स्वामी के लिये काम करने से बुद्धि में उत्तरोत्तर स्थिरता वृद्धि करने लगती है। शनैः शनैः उसका कर्मक्षेत्र बढ़ने लगता है। उसका परिवार भी बढ़ने लगता है। यहाँ तक कि कालान्तर में सर्व वसुधैव कुटुम्बकम् अनुभव होने लगती है। ऐश्वर्य, यश, धर्म, लक्ष्मी, ज्ञान, विज्ञान इन छह गुणों की वृद्धि होने लगती है। संक्षेप में, इन गुणों से युक्त व्यक्ति की अवतारी महापुरुषों में गणना होने लगती है। विवेचन से स्पष्ट है कि इस प्रकार उन्नति करते-करते व्यक्ति का अहंकारतत्त्व अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच जाता है ।

अब यह विचारणीय है कि मानव जीवन में विकास के लिये अहंकार ही प्रमुख तत्त्व है और उसके विकास का एक मात्र मार्ग है स्वामी की शरण में रहकर उसके लिए ही सच्चाई एवं ईमानदारी से कर्म करना। सचमुच अहंकार को प्रकृति ने अपना कार्य करने के लिये सेवक बनाया है और प्रकृति है स्वामी। जब सेवक स्वामी के दर्जे को हड़पना चाहता है तब उसका पतन होने लगता है, विकास रुक जाता है। अस्तु, यह निर्विवाद है कि जीवन यापन का प्रमुख तत्व व्यक्ति का अहंकार तत्त्व है। इस तत्त्व का नैसर्गिक धर्म शक्तितत्त्व के आदेशानुसार काम करने का है। शक्तितत्त्व अहंकारतत्त्व सके लिये स्वामीवत् है और अहंकारतत्त्व का कार्यकलाप सेवकवत् आचरण करने का है। इस सिद्धांत के प्रतिपादन को ही हमारे पूर्व विचारकों ने सम्भवतः कुण्डलिनी शक्ति की महिमा गाई है और शक्ति को जाग्रत करने पर ही बहुत अधिक बल दिया है। महापुरुषों ने शक्ति जाग्रत करने की अनेक विधियाँ बतलाई हैं और वे सब ठीक हो सकती हैं। किन्तु प्रत्येक विधि का अन्तिम सोपान जिस पर शक्ति की अनुभूति होती है वह एक ही है। वह सोपान है पूर्ण आत्मसमर्पण। यदि आत्म समपर्ण नहीं है तो कोई भी विधि सार्थक नहीं होती। पूर्ण आत्मसमर्पण किसको ? उसी को तो जो अपने अन्दर ही है और जिसकी ही समस्त वस्तुऐं हैं जिन्हें हम अज्ञान से पहले अपनी बना लेते हैं और फिर उसी की वस्तुओं को उसे समर्पण कर उसकी अनुभूति करते हैं। पूर्ण आत्मसमर्पण से अभिप्राय यही तो है कि हमारे मस्तिष्क में यह विचार भली प्रकार जम जावें कि शरीर, विचार, मन, बुद्धि आदि हमारी सभी वस्तुएँ शक्ति की हैं और उन्हें उसने हमें इसलिये दी हैं कि उनसे हम शक्ति का ही काम करें। अब किंचित् विचार कीजिए कि यदि हम अपनी शक्ति जो हमारे अन्दर ही है उसकी शरण में जाना चाहें तो शरण में जाने के लिये यानी उसके लिये काम करने के लिए क्या हमें जन, जन से पूछने जाना पड़ेगा ? क्या जप,

तप, योग, यज्ञ, उपवास, यम, नियम का पालन, आसन, प्राणायाम आदि करके हम अपने शक्ति की शरण में पहुँच सकेंगे ? तो इसका उत्तर होगा कि 'नहीं'। हाँ, इतना भले ही हो जावे कि इन सब पद्धतियों को आचरण में लाते-लाते हम ऊब जावें और हारकर अन्त में हम शक्ति की शरण में चले जावें। सत्य तो यह है कि शक्ति को अनुभूति करने का भाव ही प्रायः लुप्त हो गया है। प्रायः प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छाओं की पूर्तियों में लवलीन है। सेवकवत् आचरण का भाव मस्तिष्क में उदय ही नहीं होता। जप, तप, योग आदि का महत्व कामनाओं को पूर्ण कर देने तक रह गया है। स्पष्ट है कि यदि हम अपने तीनों प्रमुख तत्त्व परमात्मतत्त्व, शक्ति तत्त्व, अहंकार तत्त्व तथा उनके धर्मों से परिचित हो जावें तो हमें अपनी शक्ति ही सर्वश्रेष्ठ हितकारी अनुभव होगी। और यदि उसकी हमें प्रत्यक्ष अनुभूति हो जावे तो निश्चय ही हमें पूर्ण विश्वास भी हो जावेगा कि हमारी स्वामिनी शक्ति निरन्तर हमारे साथ रहती है और हम उसकी उपस्थिति में ही उसके लिये कर्म करते हैं। निश्चय ही स्वामी के उपस्थित रहने पर कर्मचारी कर्म करने में ढील नहीं कर सकते। अतः कर्म भी उत्तम होंगे। उनसे हमारी आसक्ति भी नहीं होगी। कर्म करते हुए ही हमें शान्ति अनुभव होती रहेगी ।

अब किंचित् विचार कीजिये कि यदि हमें बम्बई सायकल से जाना है। आगरा बम्बई रोड से जाना है। अब हम आगरा बम्बई रोड पर ग्वालियर से चलने लगें। यदि हम बम्बई की और न चलकर आगरा की ओर चलें तो चलेंगे आगरा बम्बई सड़क पर ही किन्तु हम बम्बई नहीं पहुँच सकते। हमें बम्बई पहुँचने के लिये वापिस ग्वालियर आना पड़ेगा तब यदि बम्बई की ओर चलेंगे तो बम्बई पहुँचेंगे। आगरे की ओर जाने में जो श्रम हुआ और समय लगा वह व्यर्थ गया। ऐसे ही यदि पूर्ण आत्मसमर्पण से शक्ति की अनुभूति न कर यदि हम अनुभूति के लिये अन्य जप, तप, आसन, प्राणायाम आदि हठयोग की क्रियायें करेंगे तो हमें आत्म अनुभूति नहीं होगी। हाँ, यदि हम जप आदि करते-करते ऊब जावेंगे और हारकर फिर शक्ति की ही शरण में जाते हैं तो शक्ति की अनुभूति हो जावेगी। यदि हम जप तप अदि कुछ न करते केवल शक्ति की शरण में प्रारम्भ में ही सच्चाई से हो जाते तो शक्ति की अनुभूति सहज ही हो जाती। कारण स्पष्ट है कि शरण में जाने में अहंकार का स्वामीपन सेवक के रूप में परिणत हो जाता है जो कि शक्ति की अनुभूति के लिये अभीष्ट है। शरणागति को छोड़कर सभी प्रकार की साधनाओं में अहंकार का स्वामीपन ही पुष्ट होता है 'मैं जप करता हूँ', 'मैं तप करता हूँ', 'मैं अमुक अनुष्ठान करता हूँ' मैं योग करता हूँ, मैं समाधि लगता हूँ आदि सब क्रियाओं में मैं करता

हूँ', स्पष्ट झलकता है। ध्यान रहे कि शक्ति की अनुभूति के उपरान्त यदि साधक की आवश्यकता है तो जप, आसन, प्राणायाम आदि स्वतः ही साधना में हो जाते हैं जिससे उसके होने में 'मैं पन' नहीं आता। वस्तुतः शक्ति ही सब लोगों से कर्म करवा रही है। क्योंकि न तो व्यक्ति ने शरीर के किसी अंग को बनाया है, न वह अपनी इच्छा से उत्पन्न हुआ है और न उसके कहने से श्वास आती है। न उसके कहने से अन्न पचता है, न वह स्वतः ही एक शब्द का भी उच्चारण कर सकता है, तब उसका ''मैं अमुक कार्य करता हूँ'' कहना मिथ्याचार है।

अस्तु, विवेचन से स्पष्ट है कि एक पहाड़ के शिखर पर तो पहुँचने के लिये किसी भी दिशा से चढ़ा जा सकता है। आप किसी दिशा में भी ऊपर की ओर चढ़ेंगे तो उसके शिखर पर ही पहुँचेंगे। हाँ, यह हो सकता है कि किसी मार्ग में कठिनाई कम हो और किसी में अधिक। किन्तु, शक्ति की अनुभूति रूपी पर्वत के शिखर पर पहुँचने के विविध मार्ग नहीं है। केवल एक ही मार्ग है - शरण में होना; पूर्ण रूप से शक्ति के लिये आत्मसमर्पण कर देना। साधक के अन्तःकरण में शुद्धता से जहाँ पूर्ण आत्मसमर्पण का भाव आया नहीं कि उसे तत्काल ही शक्ति के कार्यकलाप की अनुभूति हो सकती है किन्तु, यह तभी सम्भव है जबकि प्रकृति संस्कारानुसार हमको प्रेरणा दे और हमारी बुद्धि में यह बात घर कर जावे कि सत्यं, शिवं, सुन्दरम् जीवनयापन के लिये शक्ति की अनुभूति अनिवार्य है। वह हमारे अहंकार की यानी 'मैं पन' की स्वामिनी है। उसकी उपस्थिति में ही अहंकार जो सेवक तुल्य है उत्तमता से कर्म करता है। साथ ही कर्म में अपनापन नहीं लाता यानी कर्म अनासक्ति से करता है। फलतः कर्म करने में जब सुख या दुःख आता है जिससे उसे विचलित होने का अवसर उपस्थित हो जाता है तब वह उसमें बहता नहीं। क्योंकि वह तो स्वामी के लिए कर्म करता है। उसे उसके फल से कोई वास्ता नहीं होता। इसमें कर्तापन नहीं होता सेवक की भावना होती है। अतः जहाँ फिसला नहीं कि तुरन्त सम्भल जाता है। उसके मस्तिष्क का संतुलन गिरने नहीं पाता । इस प्रकार शक्ति की अनुभूति से कर्म करते हुए भी उसकी चित्तवृत्ति में शान्ति रहेगी। सम्भव है, ऋषियों ने सोचा होगा कि जनसाधारण की बुद्धियों के भिन्न भिन्न स्तर होते हैं अतः प्राणी को सत्य की ओर प्रवृत्त करने के लिये विविध संस्थाओं अथवा शिक्षण संस्थाओं को उन्होंने जन्म दिया हो। किन्तु लक्ष्य की दृष्टि से तो केवल एक ही लक्ष्य है - अपनी शक्ति की अनुभूति करना और अनुभूति के लिए एक मात्र एक ही मार्ग है - अत्यन्त सच्चाई से शक्ति के लिए आत्मसमर्पण कर देना, उसकी शरण में हो जाना, अपने को उसका सेवक समझना और उसके लिये समस्त कार्यों को करना ।

प्राण का आना जाना

अनुभूति से पूर्व मुझे संध्यावन्दन के समय प्राणायाम नित्य ही करने का अभ्यास था। पहले मैं एक बार गायत्री मंत्र का उच्चारण करते हुए श्वास को बाएँ नथुने से खींचता था। श्वास खींचते समय दाहिने हाथ के अंगूठे से दाहिने नथुने को दबा लेता था। फिर दाहिने हाथ के अंगूठे से दाहिने नथुने को दबाये हुए की बीच की दो अंगुलियों से नासिका के बाएँ नथुने को भी दबा लेता और मन ही मन एक बार गायत्री मंत्र का उच्चारण करता था। नथुने दबा देने से श्वास रुक जाती थी। पुनः दाहिने हाथ के अंगूठे को नासिकासे उठा लेता था और श्वास को गायत्री मंत्र पढ़ते हुए बाहर को निकाल देता था। इस क्रम से तीन बार प्राणायाम की क्रिया करता था। फिर प्राणायाम की क्रिया मैंने विद्वान् शुभचिन्तकों के परामर्श से बदल दी। पहले बाएँ नथुने से श्वास खींचता था और उसी नथुने से श्वास बाहर निकाल देता था। फिर दाहिने नथुने से श्वास खींचकर उसी नथुने से बाहर निकाल देता था। यह क्रिया जल्दी-जल्दी करता था। इसके उपरांत बाएँ नथुने से श्वास खींचता और दाँये से श्वास बाहर कर देता था और श्वास निकालते ही तत्काल दाहिने नथुने से श्वास खींचता और बाएँ से श्वास बाहर कर देता। यह क्रिया बारह बार करता। फिर नासिका को हाथ से स्पर्श न करते हुए स्वतंत्र रूप से श्वास खींचता था और कुछ समय तक श्वास रोककर बाहर निकाल देता था। इस क्रिया की आवृत्तियाँ यथाशक्ति करना था । जब काँख में पसीना अनुभव होता तब प्राणायाम की क्रिया बन्द कर देता था। यह क्रम कुछ समय तक चलता रहा सन् 1943 में ऋषिकेश के आगे मुनि की रेती पर श्री 108 स्वामी शिवानन्द महाराज से भेंट हुई। उनकी अनुभूति से उनके एक अत्यन्त निकटवर्ती शिष्य ने मुझे कहा कि प्राणायाम की क्रिया में से 1-4-2 का सम्बन्ध है यानी एक बार दाहिने हाथ से दाँया नथुना दबाकर बाएँ नथुने से गायत्री मन्त्र को एक बार मन ही मन पढ़ते हुये, श्वास को धीरे धीरे ऊपर की ओर खींचा जाय फिर दोनो नथुनों को दबाकर श्वास रोकी जाय और मन ही मन श्वास रोके हुये ही चार बार मंत्र पढ़ा जावे। तदुपरान्त बाएँ नथुने को दबाये हुये शनैः शनै दो बार मंत्र का उच्चारण मन ही मन करते हुए श्वास को छोड़ा जाय। इसी प्रकार से चार आवृतियां प्राणायाम की की जावे। मैं इनकी आवृत्तियां शनैः शनैः बढ़ाता गया और लगभग आध ा घण्टे तक प्राणायाम करने लगा था।

जब तक मुझे अनुभूति नहीं हुई तब तक तो मैं इसी पद्धति को अपनाता रहा।

किन्तु, जिस दिन मुझे अनुभूति हुई उस दिन मेरे हाथ नथुनों को स्पर्श न कर सके। मेरी ठोड़ी गले के गड्ढे में लग गई और श्वास स्वतः ही रुक गई। थोड़ी देर बाद ठोड़ी ऊपर को उठ गई और अन्य क्रियायें होने लगी। इसके बाद श्वास का रुकना या चलना स्वतः ही होता रहा और श्वास रुकने आदि की क्रियाऐं भी भिन्न भिन्न ही होती थी। एक दिन श्वास मन्द मन्द चल रही थी। मन ही मन श्वास सम्बन्धी विचार आने लगे। कभी कभी प्रश्न उठ आते थे कि जिसे हम प्राणायाम कहते हैं क्या यह वायु का आना जाना मात्र नहीं है ? फिर समझायश सी होती "अरे भाई श्वास के रोकने को श्वास को बाहर निकालने को श्वास का रुकना और श्वास का बाहर जाना कहा जा सकता है। इसे प्राणायाम कहना सर्वथा भूल है। देखो, वायु सर्वत्र व्याप्त है। यही वायु तो श्वास के रूप में हमारे अन्दर आती जाती रहती है। यह वायु भी किसी न किसी सत्ता के आधार पर चलती है। जिस सत्ता के आधार पर यह निर्भर है उस सत्ता को वस्तुतः प्राण कहा जा सकता है। अतः प्राणतत्त्व और वायुतत्त्व दोनों पृथक्-पृथक् हैं। वायु आकाश में सर्वत्र भरी हुई है। जब प्राणसत्ता वायु को खींचती है तब वायु बाहर से भीतर आती हुई अनुभव होती है और जब प्राणसत्ता आई हुई वायु को बाहर निकालती है तब वह बाहर को जाती हुई मालूम होती है। अस्तु, प्राणतत्त्व ही श्वास प्रश्वास का कारण है। यदि प्राणी के अन्दर वायु को खींचने और बाहर फेंकने की शक्ति न हो तो श्वास का आना जाना सम्भव नहीं। अतः प्राण की प्रमुख सत्ता है जिससे श्वास आती जाती है इसी कारण प्रत्येक जीव को प्राणी कहा जाता है। हाँ यह ठीक है कि जब व्यक्ति का अहंकार अपनी तरफ से किसी प्रचलित पद्धति के अनुसार श्वास खींचने और छोड़ने की विशेष रूप से क्रिया करता है तो सम्भव है उस क्रिया से उसके स्वास्थ्य पर अच्छा प्रभाव पड़ सकता है। सचमुच, जो क्रिया प्रकृति के अनुकूल होती है उससे लाभ होता है और जो क्रिया प्रकृति के प्रतिकूल होती है उसे अपनाने से हानि होती है। अतः श्वास लेने या छोड़ने की क्रिया को हम स्वास्थ्य के लिये लाभदायक कह सकते हैं। किन्तु उस क्रिया को प्राणायाम करना नहीं कहा जा सकता। वास्तव में प्राण के आने जाने का रहस्य गोपनीय है। शक्ति की अनुभूति होने पर ही रहस्य खुलता है। अनुभूति होने पर प्राणतत्त्व शारीरिक, मानसिक सभी क्रियायें कराता हुआ अनुभव होता है। उत्तरोत्तर व्यक्ति का विवेक वृद्धि करने लगता है। कालान्तर में वास्तविकता स्पष्ट अनुभव होने लगती है।"

विवेचन से स्पष्ट है कि प्राणतत्व से ही समस्त शारीरिक एवं मानसिक व्यापार चलते हैं। श्वास तो उसके कार्य करने का एक साधन मात्र है। हाँ, यह भी अनुभव होता

है कि प्राणतत्त्व को प्रभावित करने वाला भी कोई अन्य तत्त्व चाहिये और फिर उस तत्त्व को भी प्रभावित करने वाला अन्य कोई तत्व होना चाहिये। इस प्रकार एक के परे एक तत्व का होना सम्भव है। किन्तु इन तत्वों की अनुभूति मन, बुद्धि से परे ही प्रतीत होती है। अतः मानव की बुद्धि प्राणतत्त्व के अनुभव तक ही सीमित रहती है। प्राणतत्त्व से आगे जाने की बुद्धि में क्षमता ही नहीं मालूम होती। अस्तु, मानव जीवन को सार्थक बनाने में प्राणतत्त्व की प्रमुख सत्ता कहना युक्तिसंगत है। साथ ही उत्पत्ति, पालन, संहार करके पुनः उत्पन्न करने की क्रियायें भी प्राणशक्ति पर ही निर्भर मालूम होती है। हाँ, प्राणशक्ति के इंगित पर चलने वाले अनेक तत्त्व भी हो सकते हैं – जैसे हम किसी उत्सव के मनाने के लिये पंडाल विभिन्न व्यक्तियों से निर्माण करवाते हैं और विविध वस्तुओं का उसमें उपयोग करते हैं वैसे ही उत्सव समाप्त होने पर हमें पंडाल को उखाड़ने के लिये भी मजदूरों की आवश्यकता होती है तथा उखाड़ने में सहायक विविध वस्तुऐं भी चाहिये, इसी प्रकार प्राणशक्ति शरीर रूपी पंडाल के निर्माण के लिये उपयुक्त उपकरणों के माध्यम से काम कराती है और काम होने पर शरीर रूपी पंडाल को उखाड़ देती है। आध्यात्मिक जगत में इस उखाड़ने की क्रिया को यों कहते हैं कि प्राणशक्ति शरीर को पंचतत्त्वों में पुनः मिला देती है। अतः शरीर के अस्तित्व को मिटाने की क्रिया भी प्राणशक्ति को ही करना चाहिये। किन्तु विचारणीय है कि जनसाधारण में यह बात प्रचलित है कि व्यक्ति के मृत होने पर उसका प्राण चला जाता है। यदि प्राण चला जावेगा तो फिर मृतशरीर को पंच भूतों में यानी पृथ्वीतत्त्व को पृथ्वीतत्त्व में, जलतत्त्व को जलतत्त्व में, अग्नितत्त्व को अग्नितत्त्व में, वायुतत्त्व को वायुतत्त्व में और आकाशतत्त्व को आकाशतत्त्व में मिलाकर उसके मृतशरीर को पंचभूतों में कौन मिलायेगा ? यदि कहा जावे मृतशरीर को भस्म कर देंगे तो प्राणतत्त्व के काम करने की क्या आवश्यकता होगी ? इस पर हम इतना ही कह सकते हैं कि प्राण की आवश्यकता तो अवश्य होगी, किन्तु उसका कार्य बहुत हल्का हो जावेगा। सम्भव है, इस दृष्टि से शरीर को भस्म कर देने की प्रथा को अनुभवी विद्वानों ने जन्म दिया हो। यदि मृतशरीर को बहुत देर तक रहने दिया जावे तो शरीर सड़ने लगेगा और उसमें कीड़े पड़ जावेंगे। शरीर का सड़ना और उसमें कीड़ों का पड़ना स्पष्ट व्यक्त करता है कि शरीर में सत्ता अवश्य होना चाहिये जो शरीर को सड़ाने की क्रिया करती है। यह सत्ता प्राणतत्त्व ही है। अतः विवेचन से स्पष्ट है कि शरीर के मृत होने पर प्राणसत्ता का कार्य जारी रहता है ।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि प्राण व्यक्ति के मृतक होने पर नहीं जाता तो फिर

कौन जाता है जिसके अभाव में व्यक्ति मृत हो जाता है। इस तथ्य पर सूक्ष्मदृष्टि से यदि सोचा जाये तो सम्भव है इस रहस्य का पता लग जावे। जिन साधकों को अनुभूति हो गई है, उन्हें साधना की अवधि में जो अनुभव हुआ है, उस अनुभव के आधार पर ऐसा अवश्य प्रतीत होता है कि व्यक्ति के जीवन का आधार स्थूलदृष्टि उसके अन्दर उठने वाली इच्छायें हैं यानी संकल्प अथवा विचार हैं जो इन्द्रियों से काम लेते रहते हैं। जब प्रकृति में किसी प्रकार ऐसी गड़बड़ी हो जाती है कि विचारों के अनुसार इन्द्रियों का व्यापार रुक जाता है तब व्यक्ति के विचारों की तरंगें शरीर से बाहर जाना चाहती हैं। उन तरंगों को शरीर में व्याप्त प्राणशक्ति स्वाभाविक रूप से शरीर से बाहर कर देती है और व्यक्ति का शरीर मृत हो जाता है। यदि किसी व्यक्ति की इच्छा प्रबल है और शरीर से बाहर जाने में अड़चन उत्पन्न करती है तो प्राणशक्ति बलपूर्वक उस इच्छा की तरंगों को श्वास के रूप में क्रम क्रम से बाहर निकाल देती है। इस प्रकार विचार तरंगों से निकलने के ढंग को 'हिचकियाँ लेना' कहा जा सकता है। मृत्यु के समय हिचकियों के आने का यही कारण अनुभव होता है। यदि कोई व्यक्ति ऐसा है जिसे कोई भी इच्छा नहीं है तो उसकी मृत्यु बिना हिचकियाँ लिये ही स्वाभाविक शान्ति से हो जावेगी। शनैः शनैः श्वास रुक जावेगी। नाड़ियों की हरकत बन्द हो जावेगी। मुखाकृति शान्त बनी रहेगी। अतः यह कहना असंगत नहीं कि व्यक्ति के मृत होने के समय शरीर से प्राण नहीं निकलता। वस्तुतः प्राण तो व्याप्त सत्ता है जो व्याप्त रहती है। हाँ यदि विचार तरंगें कुछ शेष हैं तो वे ही प्राणतत्त्व के माध्यम से बाहर निकल जाती होंगी। और जो भी माता जिसके गर्भ में भ्रूण है और यदि वह उन विचार तरंगों के समान ही उस समय विचार तरंगें व्यक्त कर रही हो तो वह उन सजातीय तरंगों को ग्रहण कर लेती होगी। फिर नैसर्गिक रूप से वे तरंगे भ्रूण के मस्तिष्क में स्थायी रूप से विद्यमान हो जाती होंगी। तत्पश्चात यदि भ्रूण परिपक्व होकर जन्म लेता है और उसे तत्सम वातावरण भी मिल जाता है तो वे विचार तरंगें कार्य रूप में परिणत होने के लिये प्रवृत्त हो सकती है। इस रीति से जन्म होने की क्रिया को प्रायः पुनर्जन्म संज्ञा दे दी जा सकती है।

वैसे तो ऐसा अनुभव होता है कि व्यक्ति जीवित अवस्था में ही अपने विचारों का प्रसार करता है और जो-जो व्यक्ति उसकी विचारतरंगों को ग्रहण कर लेते हैं उनमें उसके विचारधारा से आसक्त उसके सूक्ष्मरूप का एक अंश प्रविष्ट होकर विचारों के अनुसार वर्त्तने में स्वाद लेने लगता है। हाँ, यह रहस्य, बुद्धि से ही समझा जा सकता है। विचारणीय है कि जैसे मृत्यु के समय प्राण का निकलना सम्भव नहीं वैसे ही व्यक्ति के जन्म के समय

भी प्राण का आना सम्भव नहीं। जो सत्ता नित्य व्याप्त है उसका आना युक्ति संगत नहीं कहा जा सकता। जैसे कुम्भकार मिट्टी को गलाकर रूँधकर बर्तन बनाने के योग्य कर लेता है तब वह उसके उतने अंश को जितने से वह एक इच्छित बर्तन बनाना चाहता है अपने चाक पर रख लेता है और चाक को घुमाता है। चाक घूमता जाता है और कुम्भकार अपने हाथों के सहारे से इच्छित बर्तन का सृजन करता है। जैसे-जैसे बर्तन का आकार ग्रहण करता जाता है वैसें-वैसे उसके बाह्य आकार में व्याप्त हवा स्वतः ही बर्तन के रिक्त स्थान में भरी हुई अनुभव में आती है और जब बर्तन पूर्ण आकार का हो जाता है तब कुम्भकार उसे चाक पर से उतारकर धरती पर रख देता है। यह अनुभूत तथ्य है कि न तो बर्तन में अपने में हवा भरी है और न कुम्भकार ने या अन्य किसी ने बर्तन में हवा भरी है। हवा नैसर्गिक रूप से बर्तन में आई हुई अनुभव होती है और यदि बर्तन को तोड़ दिया जावे तो टूटे बर्तन के टुकड़ों में से हवा जाती भी नहीं दिखेगी। न तो हवा बर्तन में आई है और न बर्तन के टूटने पर गई है। आकाश में व्याप्त हवा का बर्तन में आना जाना हमारी निराधार कल्पना मात्र है। ऐसे ही वस्तुतः व्यक्ति के जन्म के समय न तो प्राण आता है और न उसके मृत होने पर प्राण जाता है। केवल निराधार हमारी कल्पना मात्र है। सत्य ही, जब वायु का आना-जाना नहीं होता तो वायु से भी सूक्ष्मतत्व जिसके आधार पर वायु नित्य प्रवाहित होती हुई अनुभव होती है उसका आना-जाना कैसे सम्भव हो सकता है ? अब विवेचन से स्पष्ट है कि प्राणतत्त्व सर्वत्र व्याप्त अखंड सत्ता है, जो न तो व्यक्ति के जन्म के समय उसमें आती है न मृत होने पर उसमें से जाती है। वस्तुतः आती-जाती तो है विचारतरंगें और इनके आने जाने का माध्यम है आकाश में व्याप्त वायु। चूँकि वायु भी स्वतंत्र नहीं है, वह है अवलम्बित प्राणतत्त्व पर अतः यह कहना बुद्धिसंगत है कि अखंड सर्वत्र व्याप्त प्राणतत्त्व की सत्ता से प्रभावित वायु के माध्यम से विचारतरंगें आती-जाती रहती हैं और शरीर के मृत होने पर भी ये ही विचारतरंगें शरीर से बाहर जाती हैं। प्राणतत्त्व कहीं नहीं जाता। अस्तु शरीर के मृत होने पर शरीर में से प्राण निकल जाता है यह कहना अज्ञान है, भ्रम मात्र है।

प्रारब्ध

प्राचीन परम्परा में पले हुए लोगों की प्राय: यह धारणा है कि व्यक्ति जो कुछ पूर्व जन्म में कर्म करता आता है उनके ही फल पाने को वह जन्म लेता है। अच्छे कर्म करके आता है तो इस जन्म में सुख भोगता है और बुरे कर्म करके आता है तो इस जन्म में दु:ख पाता है। यदि अच्छे और बुरे दोनों ही प्रकार के कर्म करके इस जन्म में आता है तो सुख-दु:ख दोनों ही भोगता है। इस प्रकार मानव, जन्म के साथ ही अपना प्रारब्ध लेकर आता है और बने हुए प्रारब्धानुसार सुख दु:ख भोगता है। किन्तु केवल पुरुषार्थ में विश्वास करने वाले लोगों की धारणा प्राय: ऐसी होती है कि मानव जैसे कर्म जीवन में करता है वैसे ही फल वह जीवन में पाता है। वे लोग मानव के द्वारा वर्तमानकाल में किये गये कर्मों को मानव के सुख-दु:ख पाने का उत्तरदायी मानते हैं। यदि व्यक्ति अच्छे कर्म करता है, पुरुषार्थ करता है तो वह अपने जीवनकाल में उसके फल पाता है। उनके विचार से व्यक्ति जीतेजी अपने कर्मों के फल भोगता है। मृत्यु के बाद कुछ नहीं होता, जबकि विज्ञान के संस्कारों में पले व्यक्तियों की विचारधारा प्रारब्ध के सम्बंध में भिन्न ही सुनी जाती है। उनकी धारणा है कि व्यक्ति जन्म लेते समय जैसे संस्कारों के बीज लेकर आता है वे ही बीज अनुकूल वातावरण में अंकुरित हो उठते हैं और शनै: शनै: पनपकर पुष्ट होकर फूलते फलते हैं । यदि गर्भ के संस्कारों को अनुकूल स्थिति न मिले तो वे अनुकूल स्थिति के आगे तक प्रतीक्षा करते रहते हैं और अनुकूल स्थिति आते ही वे हरे हो जाते हैं और वृद्धि करने लगते हैं ।

कुछ महानुभावों का अनुभव अपने ढंग का निराला है। उनकी दृष्टि से व्यक्ति का अहंकार स्वयं कुछ नहीं करता, उसकी प्रकृति उसे निमित्त बनाकर उससे कर्म कराती है। कर्म करने के लिये उसे जो सामग्री आवश्यक होती है वह उसे उपलब्ध कराती है और जिस रीति से वह उस सामग्री को खर्च कराना चाहती है उस ढंग से वह उस सामग्री को खर्च करवा देती है। इस प्रकार जो कुछ व्यक्ति के पास पूंजी होती है वह उसकी नहीं होती वरन् उसकी प्रकृति की होती है। पूँजी का ही दूसरा नाम प्रारब्ध हो सकता है। पूँजी का घटना-बढ़ना ही प्रारब्ध की हीनता अथवा वृद्धि है, जिसके कारण हम व्यक्ति को प्राय: भाग्यवान अथवा भाग्यहीन कह दिया करते हैं। जैसे एक साहूकार अपने मुनीम से किसी बैंक में अपना खाता खुलवा देता है। प्रारम्भ में जितनी धनराशि रखवाता है वह उसकी प्रारम्भिक पूँजी है। ज्यों-ज्यों वह धन जमा कर-करके इस धनराशि को बढ़ाता जाता है

त्यों-त्यों ही धनराशि बढ़ती जाती है और जैसे-जैसे वह पूँजी में से धन निकालता रहता है वैसे-वैसे ही वह पूँजी कम होती रहती है। इस प्रकार रखी हुई पूँजी की घटती बढ़ती होती रहती है। ध्यान रहे कि यदि पूँजी सब निकाल ली जावे तो फिर उस साहूकार के लिये उसका मुनीम बैंक से उसके खाते से धन निकालने में असमर्थ हो जाता है। वैसे ही प्रकृति ने व्यक्ति के अहंकार के द्वारा किये जाने वाले कर्मों को तथा उनके फलों को पहले से ही रच रखा है। अतः जन्म से ही व्यक्ति के भाग्य के स्मृतिचिह्न भ्रूण के मस्तिष्क में निर्माण हुये आते हैं। उन स्मृतिचिह्नों को आकाश में व्याप्त विचारतरंग प्रभावित करती रहती हैं। इस प्रकार व्यक्ति का अहंकार कर्म करने तथा कर्म के फल पाने के लिये विवश हो जाता है। जो स्मृतिचिह्न भ्रूण के मस्तिष्क में विद्यमान आते हैं वे ही उस भ्रूण के अहंकार की प्रारम्भिक पूँजी के रूप में है। तत्सम स्मृतिचिह्नों की संख्या में बाह्य वातावरण से प्रभावित होकर वृद्धि का होना पूँजी अथवा भाग्य की वृद्धि है और स्मृतिचिह्नों के अनुसार उनका बर्तना उस पूँजी की घटती यानी भाग्य की कमी होना समझी जा सकती है। इस प्रकार से विभिन्न प्रकार की विचारधारायें प्रारब्ध के सम्बन्ध में लोकव्यापी हो रही हैं ।

हाँ, अनुभूति के उपरान्त साधना के समय दैनिक जीवन में उठने वाली जिज्ञासाओं का भी सन्तोषजनक समाधान हो जाया करता है। मुझे ऐसा ध्यान आता है कि भाग्य सम्बन्धी मेरी जिज्ञासा का भी समाधान मुझे एक दिन साधना में हुआ था। जो जो भाव उस समय व्यक्त हुये थे वे बहुत कुछ इस प्रकार के थे कि ''सृष्टि के आदिकाल से ही मानवमात्र की विचारतरंगें आकाश में व्याप्त हैं। यह अक्षुण्ण भण्डार है। इस भण्डार को इस लोक में भाग्य कहते हैं। इस भण्डार में से निकली हुई विचारतरंगें नवीन रूप धारण करके समष्टि भण्डार की विचारतरंगों में प्रविष्ट होती रहती हैं और वायु के माध्यम से उसी में समा जाती हैं। यह विचारतरंगों का भण्डार सदैव आकाश में वायु के माध्यम से विचरता रहता है। इस भण्डार की विचारतरंगें माताओं के गर्भस्थ भ्रूणों के मस्तिष्कों को प्रभावित करती रहती हैं। भ्रूणों के मस्तिष्क की एक विशेषता है। वह विशेषता यह है कि उनमें से दो प्रकार की विद्युततरंगे उठती रहती हैं। एक तो वे तरंगें होती हैं जिनमें विचार तरंगों के प्रति अनुकूलता होने पर आकर्षण होता है और दूसरी वे तरंगें हैं जिनमें यदि किन्हीं विचारतरंगों के प्रति उन्हें प्रतिकूलता है तो वे उन्हें स्वीकार नहीं करती, उन्हें वापिस कर देती हैं यानी एक तो भण्डार की विचारतरंगों में से आवश्यकतानुसार विचारतरंगों को लेकर उन्हें अपने अन्दर रहने का स्थान दे देती है।

दूसरी वे हैं जिन्हें जो विचारतरंगें अनावश्यक लगती हैं वे उन्हें वापिस फैंक देती हैं, उन्हें अपने अन्दर प्रविष्ट नहीं होने देती। इस दृष्टिकोण से जब माँ के उदरस्थ भ्रूण का मस्तिष्क उस स्थिति में निर्मित हो जाता है कि वह आकाश में व्याप्त विचारतरंगों को ग्रहण कर सकता है अथवा उन्हें वापिस भेज सकता है तब प्रत्येक भ्रूण के मस्तिष्क में अनुकूल विचारतरंगें प्रविष्ट होने लगती हैं। ये विचारतरंगें प्रायः उसके निकट सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों की तो होती ही हैं पर साथ ही आकाश में व्याप्त विचारतरंगें सीधी भी मस्तिष्क में प्रविष्ट हो जाती हैं, यदि वे भ्रूण के मस्तिष्क की विद्युततरंगों से आकर्षित होने की क्षमता रखती हैं तो भ्रूण के निकट सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों में भ्रूण की माता का स्थान सर्वप्रथम है। माता की विचारधारा की तरंगों में भी उसके माता, पिता, भाई, बहिन, मित्र, पड़ोसी, पति आदि की विचारधारा की तरंगें मिली रहती हैं। इन व्यक्तियों की विचारतरंगों में भी उनके सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों की विचारतरंगें सम्मिलित रहती हैं। इस प्रकार एक भ्रूण के मस्तिष्क की विचारतरंगों में ऐसा नहीं है कि केवल उसके माता-पिता के संस्कार विचारतरंगों के रूप में हों वरन् उससे सम्बन्धित अनेक व्यक्तियों के संस्कार उसकी विचारतरंगों के रूप में भी हो सकते हैं ।

विवेचन से स्पष्ट है कि किसी भी माता-पिता की सन्तान उसके विचारों के सदृश आचरण करने वाली ही हो ऐसा नहीं है। उनके जैसे विचार वाली भी हो सकती हैं और उनसे भिन्न आचरण करने वाली भी तथा ऐसी भी हो सकती है कि उसकी कुछ बातें माता सदृश हों, कुछ बातें पिता के आचरण के अनुकूल हों, कुछ बातें उनके परिवार के दूर अथवा निकट सम्बंधियों की हों। और यह भी सम्भव है कि उनके अन्दर आकाश में व्याप्त सृष्टि के विशेषज्ञों, वैज्ञानिकों, कलाकारों, उद्योगपतियों, संगीतज्ञों, पहलवानों, तैराकों, योद्धाओं, परोपकारियों, विद्वानों आदि की विचारतरंगों में से किसी एक की विचारतरंगें प्रचुर मात्रा में हों। साथ ही यह भी सम्भव है कि आकाश में व्याप्त विचारतरंगों में लोगों को पीड़ा पहुँचाने वाली विचारतरंगें हों, डाकुओं की, चोरों की, व्यभिचारियों की, लोगों को ठगने वालों की, अत्याचारियों की, उपद्रवियों की, लोगों के जी को जलाने वालों की, झूठ व्यवहार करने वालों की, हठ करने वालों की, बात-बात में रोने वालों की, सतायेगये लोगों की, हँसी उड़ाने वालों की, स्वार्थियों आदि की विचारतरंगों में से किसी एक की अथवा अधिक की विचारतरंगें प्रचुर मात्रा में हों। और यह भी सम्भव है कि उसकी विचारतरंगें पागलों जैसी हों। पशुओं के समान गंदगी और सफाई के महत्व को न समझने वाली हों, बात-बात में अपने सिर को पीटने वालों जैसी हों।

संक्षेप में भ्रूण के मस्तिष्क की रचना में आकाश में व्याप्त सृष्टि के आदिकाल से अब तक की विचारतरंगें तथा उनके निकट सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों की ही विचारतरंगों में से किसी की विचारतरंगें विशेष रूप से विद्यमान हुई अनुभव में आती हैं। मेरे प्रत्यक्ष अनुभव में आई एक घटना का मुझे स्मरण हो आया है। अतः इस समय उसका उल्लेख कर देना असंगत न होगा ।

एक दिन एक मेडीकल विभाग के उच्च अधिकारी तथा उनकी धर्मपत्नी जो स्वयं भी लेडी डाक्टर थीं अपने 10-11 वर्षीय पुत्र को लिये हुये मेरी कुटिया पर आये। उन्होंने कहा ''महाराज ऐसा सुनने में आया है कि आपकी देख रेख में पथभ्रष्ट बालक आते हैं और वे पथ पर आ जाते हैं। हमारा यह बालक पढ़ने-लिखने में बिल्कुल रुचि नहीं रखता, विचित्र ढंग का वर्त्ताव करता है। इसको घर पर पढ़ाने के अनेक प्रयास किये गये पर वे सब असफल हो गये। इस बालक का मस्तिष्क विकृत है। यह किसी के उपदेश की बात पर किंचित् भी ध्यान नहीं देता।'' मैंने कहा, ''कृपया बालक को यहीं कुटिया में लिवा लाइये'' बालक को वे अपनी कार में बैठा हुआ छोड़ आये थे। उनकी देखभाल में उनके दो सेवक भी थे। बालक अत्यन्त रूपवान था। उसकी मुखाकृति से वह सौम्य दिखता था। प्रत्यक्ष में कोई गड़बड़ी उसमें नहीं दिखती थी। सुन्दर वेशभूषा में वह सजा हुआ था। उनके कहने पर सेवक बालक को लेकर कुटिया के द्वार तक आ गये। द्वार के भीतर मेरे पास तक आने का बालक ने विरोध किया। मैंने प्यार से उससे कहा कि ''भैया, लो यह प्रसाद लो, खाओ'' और मैंने अपना प्रसाद का डब्बा खोला। उसमें शकर चढ़ी हुई मूंगफली के दाने थे। मेरे बुलाते ही बालक ने एक कीक सी मारी (कुछ अस्पष्ट भाषा में चिल्लाया) और कुटिया के द्वार से वापिस जाने लगा। मैंने डिब्बे में से कुछ प्रसाद अपने हाथ में ले लिया और बालक को प्रेम से उसे लेने के लिये आग्रह किया। बालक अपने स्थान पर ही रुक गया किन्तु कुटी के अन्दर आने का साहस नहीं कर रहा था। मैंने पुनः अत्यन्त स्नेह से अपना हाथ उसकी ओर बढ़ाया और मुट्ठी खोलकर उसे प्रसाद दिखलाया। उसके माता-पिता ने भी प्रसाद ले लेने का आग्रह किया। बालक मेरी ओर देख रहा था। उसे ऐसा लग रहा था कि मैं प्रसाद तो दूँगा नहीं और प्रसाद दिखाकर उसे पकड़ लूँगा। बालक की दयनीय आकृति मेरे मानस में उथल पुथल मचाने लगी। मैंने उसके सामने प्रसाद का हाथ ऐसे कर दिया कि वह सहज ही प्रसाद उठाले। बालक ने अपने शरीर को खड़े-खड़े ही किंचित मेरी ओर को झुकाया और झपटकर प्रसाद ले लिया और वहीं खाने लगा। कुटिया में मेरी ओर को आगे बढ़कर नहीं आया।

जब उसके सेवकों ने उसे आगे को किंचित् बलपूर्वक आगे बढ़ाया तो वह पागलों की तरह चिल्लाता हुआ कार की ओर भागा। छोटी कक्षाओं में बैठे छात्र उसे देखने इकट्ठे हो गये। मैंने बच्चों को कहा कि ''वे अपनी-अपनी कक्षा में बैठें, यहाँ खड़े न रहें।'' बच्चे कक्षाओं में चले गये। बालक अपने सेवकों के साथ कार में बैठ गया। मैंने बालक के पालकों से पूछा कि 'इसकी दिनचर्या किस प्रकार रहती है ?' उन्होंने कहा कि 'महाराज, पढ़ने लिखने के नाम से तो चिल्लाता है, वैसे बैठा रहता है, कभी कुछ कभी कुछ ऊट-पटांग काम करता रहता है' फिर मैंने पूछा कि इसकी खाने पीने में रुचि कैसी है ? उन्होंने कहा खाने में तो बहुत कुशल है। खाने में पागलपन बिल्कुल मालूम नहीं होता। अलमारी में मेवा रखी रहती है। यह ताली का गुच्छा उठा लाता है । और ताले में कौनसी ताली लग जाती है उनसे अलमारी खोलकर मेवा खा जाता है। बालक की खाने में रुचि है यह उनकी बात मुझे भी ठीक प्रतीत हुई। बालक मेरे पास तो आया नहीं था। और पूछने पर उसने किसी बात का उत्तर भी नहीं दिया था। किन्तु प्रसाद को हाथ से छीनकर अवश्य खा गया था। अनुमान से मैंने डाक्टर साहब को कहा, ''यह बालक खाने की प्रबल इच्छा लेकर आपके पास आया है जिसकी पूर्ति में वह लगा है। यह बालक स्कूल में अन्य छात्रों के साथ नहीं पढ़ सकता। छात्रों के लिये उनके विनोद की वस्तु है। कक्षा में यह नहीं बैठ सकता। आप ऐसा इनका संरक्षक ढूंढ़िये जो इसकी रुचि के अनुसार इसके मन को जीतते हुये इसे चतुराई से कुछ सिखा सके।'' मैं बालक की सहायता करने में असमर्थ था। बालक के पालक निराश हुये वापिस चले गये। कुछ दिन बाद मुझे मालूम हुआ कि उस बालक को लुनावला आश्रम में भेज दिया है। कुछ ही दिन बाद पालकों के पास एक दिन लुनावला से तार आया कि 'बालक में आज आशातीत सुधार है' तार पाकर पालक अपनी प्रसन्नता प्रकट ही नहीं कर पाये कि दूसरा तार आया कि 'बालक का देहावसान हो गया।' पालक हाथ मलते रह गये। इस घटना पर मनन करने से स्पष्ट समझ में आ सकता है कि माता-पिता दोनों ही सुयोग्य हैं, इंग्लैंड होकर आये हैं। कुशल चिकित्सक हैं। स्वास्थ्य के नियमों से परिचित हैं। इस स्थिति में उनकी सन्तान को उन जैसा ही होना चाहिये था किन्तु संतान हुई एकदम उनके विपरीत। अतः गर्भ में आये भ्रूण पर माता-पिता के संस्कारों का प्रभाव कुछ भी नहीं पड़ा। वह अपनी स्वतन्त्र आकर्षण शक्ति से समष्टि विचारतरंगों से खाने के आधिक्य की विचारधारा लिये हुए ही अल्पकाल को उत्पन्न हुआ और वासना के पूर्ण होते ही उसके मानव शरीर का अस्तित्व विलीन हो गया। मानो कि एक प्रकार का अभिनय सम्पन्न होकर संसार के रंगमंच का पटाक्षेप हो गया ।

विवेचन से स्पष्ट है कि माँ के उदरस्थ भ्रूण में प्राकृतिक नियमानुसार जिस ओर को भी उसकी विद्युततरंगों का आकर्षण होगा उसी के अनुसार वे आकाश में व्याप्त विचारतरंगों को अथवा अपने निकट के जनसमूह की विचारतरंगों को खीचेंगी। माता-पिता आदि की विचारतरंगें भी खिंच सकती हैं और नहीं भी खिंच सकती। विचारतरंगें ही गर्भ के चरित्र निर्माण में प्रमुख हैं और ये विचारतरंगें आकाश में व्याप्त विचारतरंगें हैं जो सृष्टि के आदिकाल से अब तक के मानवों के द्वारा अनन्तकाल से व्यक्त की जा रही हैं। साथ ही भ्रूण की नैसर्गिक आकर्षण और विकर्षण की विद्युततरंगें भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं जो विचारतरंगों को आकर्षित कर मस्तिष्क में विद्यमान करने में सहयोग देती हैं और भ्रूण को तद्नुकूल आचरण करने को प्रेरित करती हैं ।

अस्तु, यह कहना असंगत न होगा कि मानव का प्रारब्ध जो भ्रूण अवस्था में मानव प्राप्त करता है तथा अपने जीवनकाल में उसे नैसर्गिक ढंग से ही पुष्ट करता है वह है आकाश में व्याप्त विचारतरंगों का अक्षुण्ण भण्डार, जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपना-अपना प्रारब्ध प्राप्त करता है। मानव अपने प्रारब्ध से विवश हुआ ही बुरे भले अनेक प्रकार के अभिनय करता है और उनके फल पाता रहता है। इस प्रकार प्रारब्ध की तीन अवस्थायें अनुभव में आती हैं। एक तो आकाश में व्याप्त मानव मात्र की विचारतरंगों का समष्टि रूप दूसरा है प्रत्येक भ्रूण का समष्टि से प्राप्त विचारतरंगों का एक अंश जिसे एक-एक व्यक्ति का प्रारब्ध कहा जा सकता है और तीसरा रूप है प्रत्येक व्यक्ति की विचारतरंगें जो व्यक्ति से व्यक्त होकर समष्टि विचारतरंगों में पुनः मिलकर एक रूप हो जाती हैं। यदि हम इन तीन अवस्थाओं को पृथक्-पृथक् न कहकर केवल एक ही समष्टि का रूप कह दें तो उचित ही कहा जावेगा। अस्तु, मेरी दृष्टि से जिसे मानव का प्रारब्ध कहा जाताहै वह है आकाश में व्याप्त मानवमात्र की विचारतरंगों का समूह जो सृष्टि के आदि से ही अपना अस्तित्व बनाये हुए है ।

सिद्धियाँ तथा समाधि

यह अनुभूत तथ्य है कि यदि किसी व्यक्ति को कुछ प्रलोभन देकर कोई कार्य कराया जावे तो उस व्यक्ति को प्रलोभन ही महत्वपूर्ण दिखेगा कार्य की महत्ता उसे प्रभावित नहीं करेगी। सम्भव है, इसी प्रकार सिद्धियों का प्रलोभन देकर सन्त, महात्माओं ने भक्तों को अध्यात्म की ओर प्रवृत्त किया हो। फलतः अध्यात्म की अपेक्षा सिद्धियाँ ही लोगों को अधिकतर आकर्षित करती हैं। जनसाधारण की दृष्टि में जो सन्त जितनी अधिक सिद्धियों को प्राप्त हो अथवा जो अधिक से अधिक चमत्कार दिखा सके,वही उच्च कोटि का सन्त अथवा महात्मा है। चमत्कार से ही नमस्कार है का बोलबाला सर्वत्र ही देखने में आता है। जब भी सिद्धियों की चर्चा होती है तब उनकी विशेषता बतलाने को यहाँ तक कह दिया जाता है कि अध्यात्म का सिद्धियों से चोली दामन का सम्बंध है। इसी दुनियाँ में ही तो मैं भी पला था। मेरे मस्तिष्क में भी यदि इस विचारधारा ने प्रचुर मात्रा में अपना स्थान बना लिया था तो असंगत न था। जब मुझे शक्ति की अनुभूति हो गई तब साधना में सिद्धियों के विचार भी आया करते थे। मैंने सुन रखा था, पुस्तकों में भी कहीं-कहीं पढ़ लिया होगा कि शक्तित्व जाग्रत होने पर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु अथवा आकाशतत्त्व पर अधिकार हो जाता है। शक्तिसम्पन्न महात्मा जल के ऊपर थल की भाँति चल सकता है। पृथ्वी के भीतर रखी हुई वस्तुओं को बता सकता है। अग्नि में प्रविष्ट हो सकता है और सुरक्षित निकलकर आ सकता है। वायु में सूक्ष्म होकर उड़ सकता है अथवा आकाश में विचर सकता है ।

जब साधना में तल्लीन हुआ मैं अधिक समय तक बैठने लगा तब कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता था कि सर्वत्र जल ही जल भरा हुआ है और मैं उन पर सर्वत्र आनन्द से घूम रहा हूँ। कभी ऐसा प्रतीत होता था कि जलती हुई अग्नि में प्रविष्ट होकर मैं गा रहा हूँ। कभी मुझे दिखाई देता कि मेरे सामने धरती फटती जाती है और धरती के भीतर क्या है मुझे दिखाई देने लगता। कभी हवा में उड़ जाता और वापिस आ जाता था। कभी इधर-उधर आकाश में विचरने लगता और फिर अपने को मैं वहीं बैठा पाता, जहाँ मैं बैठा था। साधना से उठने के उपरान्त मुझे कल्पना होने लगती कि सम्भव है कि साधना में अधिक बैठने पर मुझे ऐसी योग्यता आ जावे कि मैं भी जल पर चल सकूँ अथवा आकाश में विचर सकूँ। अग्नि का दाह मुझे न व्यापै। पृथ्वी के भीतरी भाग की मुझे भी जानकारी हो जावे। किन्तु ज्यों-ज्यों साधना में विकास होता गया त्यों-त्यों ही अज्ञान दूर

होने लगा और वास्तविकता का ज्ञान स्पष्ट होने लगा ।

मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि मैं ही स्वयं को समझा रहा हूँ कि 'अरे अज्ञानी, इन सिद्धियों के चक्कर में मत पड़। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाशतत्त्व से यानी पंच भूतों से बना हुआ यह तेरा शरीर है। तू इनसे ऊपर है। तू स्थूल नहीं वरन् सूक्ष्म शरीर धारण किये हुए है। जब तुझे विवेक भली प्रकार हो जावेगा कि मृत्यु होने पर तेरी मृत्यु नहीं होती तब तुझे विदित हो जावेगा कि जिस समय तेरे शरीर को अग्नि में रखा जावेगा तब तुझ पर अग्नि का प्रभाव न होगा, तू सुरक्षित निकल आवेगा। जब तेरे जले हुये शरीर की राख को पानी में बहाया जावेगा तब तू पानी में नहीं बहेगा, खट-खट ऐसे पानी से निकल जावेगा मानो तू धरती पर ही चल रहा हो। ऐसे ही तू अन्य तत्त्वों के विषय में समझ।' इस विवेक ने मेरी आँखें खोल दीं। मेरा भ्रम दूर हो गया। जल में चलने की सिद्धि प्राप्त करना लोगों को भ्रम में डालना है। ऐसे ही अग्नि प्रवेश मिथ्या है। एक स्थान से उड़कर दूसरे स्थान में पहुँचना अज्ञानियों को मोहित करना है। हाँ, आगे साधना में बैठने पर यह लक्ष्य अवश्य अनुभव होता है कि जब प्राणशक्ति रीड की अस्थि के मूल के क्षेत्र पर क्रिया करती है तब पीला रंग दिखाई देता है। इन्द्रियों के ऊपर के क्षेत्र पर क्रिया करती है तब श्वेत रंग के जल के सदृश दिखाई देता है, नाभि के क्षेत्र पर क्रिया करती है तब लाल रंग दिखलाई देता है, जब हृदय के क्षेत्र पर क्रिया करती है तब हरा रंग दिखलाई देता है, जब ठोड़ी के नीचे गड्ढे के क्षेत्र पर क्रिया करती है तब नीला रंग आकाश के सदृश दिखाई देता है। जब भृकुटि के मध्य के क्षेत्र पर शक्ति क्रिया करती है तब फुलझड़ी चल रही हो इस प्रकार रंग बिरंगे आकार दिखाई देते हैं। जब सिर के पीछे के भाग मस्तिष्क पर क्रिया करती है तब कोई रंग नहीं दिखाई देता। शून्य, शान्त स्थिति हो जाती है ।

सम्भव है, हठयोगियों को अपना ध्यान केन्द्रित करने पर यदि मूलाधार (रीड की हड्डी के नीचे का भाग) के क्षेत्र पर पीला रंग दिखने लगता हो तो उन्होंने यह समझा हो कि 'हमने पृथ्वी जिसका रंग पीला है जीत लिया है। श्वेत रंग दिखने पर उन्होंने समझा हो कि हमने जलतत्व पर अधिकार कर लिया है क्योंकि जल का रंग श्वेत होता है। लाल रंग दिखने पर उन्होंने समझा हो कि 'हमने अग्नितत्व जीत लिया है, क्योंकि अग्नि की रंगत लाल होती ही है।' ऐसे ही हरा रंग दिखने पर उन्होंने समझा हो कि 'हमने वायुतत्त्व जीत लिया है क्योंकि वायु का रंग हरा माना जाता है' नीला रंग दिखने पर उन्होंने समझा हो कि 'हमने आकाशतत्त्व जीत लिया है क्योंकि आकाश का रंग नीला होता है।' इस प्रकार वे

योगी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश तत्त्व को जीतने वाले योगी कहलाने लगे हों।

विवेचन से स्पष्ट है कि इन भीतरी क्रियाओं को बाहरी क्रियाओं का रूप देना भ्रममात्र है। जल सिद्धि, पृथ्वी सिद्धि, अग्नि सिद्धि, वायु सिद्धि, आकाश सिद्धि जैसी सिद्धियाँ यदि किसी को प्राप्त हैं ऐसा भी मानलें तो उसे सर्वसाधारण के लाभार्थ प्रयोग करने में आपत्ति क्यों होना चाहिये ? फिर इन सिद्धियों को अपने तक ही सीमित रखना, लोगों में भ्रम ही उत्पन्न करेगा, स्वार्थ ही कहलावेगा, लोकहित नहीं। बाजीगर भी रुपये बना देता है। डाली में आम के फ़ल लटका देता है यदि बाजीगर पर रुपये होते तो पीछे वह पैसा-पैसा मांगता क्यों फिरता है ? सचमुच बाजीगर ने रुपये दिखाने मात्र की कला जान ली है। उसके चित्त की एकाग्रता ने लोगों के चित्त को बशीभूत करने की विद्या जान ली है। ये विद्याऐं वास्तव में कथाऐं हैं। व्यक्ति की बुद्धि की क्षणिक चतुराई है, हाथ की सफाई है। वास्तविकता से कोसों दूर हैं। ऐसे ही थोड़े बहुत अंशों में वस्तुतः सिद्धियों के चमत्कार भी हो सकते हैं ।

सिद्धियों की महत्ता की तरह मुझे अनुभूति से पूर्व समाधि की भी महत्ता बहुत ही अधिक रुचिकर थी। शक्ति के अनुग्रह से ही मुझे समाधि की वास्तविकता पर प्रकाश मिला। एक दिन साधना में मुझे पहले तो कुछ अचेतना सी अनुभव हुई और फिर मुझे कुछ सुध नहीं रही। लगभग दो तीन घंटे के उपरांत जब मुझे सुध आई तो अन्दर से प्रसन्नता उमड़ रही हो, ऐसा लगा। अत्यन्त ही शान्ति अनुभव हुई। मैंने अनुमान किया कि इसी प्रकार योगीजन समाधि का आनन्द लेते होंगे। उन्हें अदृश्य बातें अनुभव होने लगती होंगी। अनेक प्रकार की आश्चर्य में डालने वाली योग्यताऐं आ जाती होंगी। किन्तु जब समाधि जैसी स्थिति का मुझे कई बार अनुभव हुआ तो चमत्कार जैसी कोई क्रिया मेरे हाथ न लगी। संस्कार बड़े प्रबल होते हैं। उनसे प्रेरित हुआ मैं चमत्कार देखने को अत्यन्त लालायित हो गया था। किन्तु जब चमत्कार जैसी क्रिया का मुझे अनुभव नहीं हुआ तो मैं निराश हो गया। मुझमें क्या त्रुटि है यह भाव बार-बार आने लगा। किन्तु मेरी निराशा साधना में ही दूर हो गई। साधना में ऐसा अनुभव हुआ कि कोई मुझे चेतावनी दे रहा है और कह रहा है कि किंचित् विचार तो करो, समाधि का भाव समबुद्धि से कर्म करना है। और इस प्रकार कर्म किये जाने चाहिये जिनका सर्वसाधारण अनुकरण कर सके। तुम्हें विदित है कि तुम्हारे शहर में ही एक महात्मा ने समाधि लगाई थी। किन्तु जब समाधि पर चढ़ी चढ़ोत्तरी का बंटवारा महात्माजी के साथियों में होने लगा तो उनमें झगड़ा हो गया। चमीटे बजने लगे। पुलिस को हस्तक्षेप करना पड़ा। निश्चय ही उन महात्माजी को

समाधि लगाने की क्रिया तो आती थी पर उनका उद्देश्य न तो जनहित का था न परमात्मतत्त्व की प्राप्ति का, उनका उद्देश्य था धन उपार्जन करना। अब तुम्हीं बताओ कि समाधि की क्रिया का भयंकर दुरुपयोग हुआ या नहीं। वस्तुतः साधना में समाधि की क्रिया, मस्तिष्क में भरे हुए अनेक उलझनों के विचारों को दबा देती है। मस्तिष्क संतुलित हो जाता है। साधक जागरूक हो जाता है। कर्तव्यपालन की विशिष्ट सूझबूझ की योग्यता प्राप्त करता है। वह समाधि लगाकर, प्रदर्शन करके अपने उदर की पूर्ति नहीं करता। हो सकता है कुछ योगी परमात्मतत्त्व में लीन होकर परमपद लाभ करने को समाधि की शरण लेते हों। सम्भव है, किन्हीं-किन्हीं योगियों को समाधि के माध्यम से व्यक्तिगत क्षमताऐं भी प्राप्त हो जाती हैं। ऐसी शक्तियाँ भी उन्हें आ सकती हैं जिन्हें सर्वसाधारण की दृष्टि से चमत्कार भी कहा जा सकता हो जैसे एक स्थान से वस्तुओं को मंगाकर दूसरे स्थान पर पहुँचा देना, हरी-2 लौंग आदि मंगवा देना। एक ही समय में उनको दो स्थानों पर देखा जाना, लोगों के मन की बात को बतला देना, धरती के गड़े धन को दिखला देना आदि। इन सब चमत्कारों के कारण चमत्कार बताने वाले योगियों को पूज्यनीय माना जाता है। उनकी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा बढ़ जाती है। किन्तु उन जैसी क्षमता जनसाधारण उनसे नहीं प्राप्त कर सकता। लोगों के स्तर से वह अपना स्तर इतना ऊँचा उठा लेता है कि जनता उसे परमात्मा से सदृश पूजने लगती है। इस प्रकार यदि यह कहा जावे तो असंगत नहीं कि परमात्मा का दर्जा ही योगी स्वयं ले लेता है। लोग परमात्मा को भूल जाते हैं और इन चमत्कारी योगियों के पीछे अपनी-2 स्वार्थ सिद्धि हेतु चक्कर काटने लगते हैं। सृष्टि के आरम्भ में अब तक जो सिद्ध योगी हो गये हैं उनकी संख्या बहुत बड़ी हो सकती है। किन्तु अनुभव यही बताता है कि वे अपनी पूजा करवा कर ही चले गये, जनहित में उनका उपयोग नहीं के बराबर ही हुआ है। हाँ उनका भार वास्तविकता को दूर हटाकर अज्ञान अंधकार को फैलाने में अवश्य सहायक हुआ है।

विचारणीय है कि प्रत्येक सामर्थ्यवान योग्य महापुरुष से अपेक्षा की जाती है कि उसका चरित्र ऐसा हो जिसका अनुकरण जनसाधारण करके कृत्कृत्य हो जावे। यदि उसका चरित्र, अनुकरण करने में सर्व साधारण की बुद्धि से परे हो तो वह उनका आदर्श नहीं बन सकता। वस्तुतः मानव का शरीर अनेक अंगों से मिलकर बना है। प्रत्येक अंग उपयोगी है। उसका सदुपयोग किया जाना धर्म है न कि उसे बेकार कर देना। समाधि में कुछ देर बैठकर यदि मस्तिष्क संतुलित हो जाता है और उसे कर्तव्यपालन में मार्ग मिल जाता है तो समाधि सर्वोत्तम क्रिया है। किन्तु यदि समाधि में दिन भर ही बैठकर स्वयं

कोई आनन्द ले और अपने शरीर के समस्त अंगों का कुछ भी उपयोग न करे तो निस्सन्देह समाधि की क्रिया अपनी उपयोगिता को खो देगी ।

विवेचन से स्पष्ट है कि समाधि का यह प्रचलित रूप भ्रमात्मक है। चमत्कार लोगों को कर्तव्यविमुख बना देते हैं। वे योगियों की चापलूसी करने को प्रेरित करते हैं जिससे बिना श्रम के उनके मनोरथ सिद्ध हो जावें। अस्तु, साधक, जिसे शक्ति की अनुभूति हो गई है वह न तो समाधि के चक्करों में फँसता है न सिद्धियों के पीछे दौड़ता है। वह समस्त मानवीय कर्तव्यों का पालन करता है। यथेष्ट श्रमपूर्वक जीवन व्यतीत करता है। साधना में कुछ समय अवश्य बैठता है जिससे कर्तव्य पालन के लिये मस्तिष्क का संतुलन सहज ही हो जाता है। उसे भली भाँति विदित होता है कि साधना में समाधि की स्थिति उस समय आती है जबकि साधक को कर्तव्यपालन में अड़चन आ जाती है। समाधि की अवधि में उसका संतुलित मस्तिष्क साधक को सूझ बूझ दे देता है, उस मार्ग को दिखा देता है जिस पर चलकर वह साहस से कर्तव्यपालन में आने वाली अड़चनों को दूर कर सके ।

गुरु तत्त्व

अनुभूति की दृष्टि से गुरूतत्त्व मुझे सर्वाधिक महत्वपूर्ण अनुभव होता है। गुरु के मार्गदर्शन से ही व्यक्ति को अपनी शक्ति की अनुभूति होती है। गुरु का मार्गदर्शन जितना भी सरल होगा एवं आडम्बरहीन होगा उतनी ही शक्ति की अनुभूति के इच्छुक साधक को यथावत् शक्ति का रहस्य हृदयंगम करने में, सुविधा होगी। परन्तु मेरे अनुभव में तो यही आया है कि शक्ति की अनुभूति करा देने वाले सद्‌गुरु पहले तो मिलना ही कठिन हैं और यदि संयोग से सद्‌गुरु मिल जावें तो उन्हें अनुकूल बना लेना महान् कठिन है। उनकी सेवा शुश्रूषा प्रायः बहुत ही महँगी तथा साधक को विचलित कर देने वाली होती है। जिन गुरुओं को शक्ति की अनुभूति भी नहीं है, केवल आसन, प्राणायाम, नेति, द्यौती आदि क्रियाओं का ज्ञान है, उन्हें भी अनुकूल बनाकर आसन, प्राणायाम आदि की विधि जान लेने में भी बहुत कठिनाइयाँ आती हैं। पहले तो साधक को उनकी फटकारें सहनी होती हैं। यदि साधक तर्क करता है तो प्रायः उसे अनाधिकारी बताकर भगा दिया जाता है । ऐनकेनप्रकारेण वे सिखाने को तैयार हो भी जाते हैं तो फिर उन्हीं की सीमा में रहना पड़ता है। यदि साधक किसी अन्य गुरु से सम्पर्क साधे तो उन्हें सहन नहीं होता। वे उसे कूपमंडूक जैसा अपना भक्त ही बना रहना प्रायः पसन्द करते हैं । गुरुओं का बर्ताव साधक के प्रति मेरी दृष्टि में कैसा होना चाहिये मैं यही बात पाठकों से कहना चाहता हूँ, उनकी अधिक टीका टिप्पणी नहीं करना चाहता। वस्तुतः जिस गुरु को जिस पद्धति से प्रशिक्षण मिला है प्रायः वह उसी पद्धति को अपनाने लगता है। देशकाल परिस्थिति के अनुसार पद्धति में परिवर्तन आवश्यक है। साथ ही साधक के स्तर के अनुसार मार्गदर्शन देना भी परमावश्यक है। मेरी दृष्टि से सद्‌गुरु कहलाने का अधिकारी वह महापुरूष है जिसे अपनी शक्ति के रहस्य का अधिक से अधिक ज्ञान हो और जो सम्पर्क में आने वाले इच्छुक, श्रद्धालु साधक को शक्ति की अनुभूति कराने में सर्वथा समर्थ हो। जिसे शक्ति अखंड अनुभव होती है और उसका अस्तित्व प्राणीमात्र में सदैव विद्यमान रहता है, ऐसा उसे अनुभव होता है। उसे यह ज्ञान हो कि शक्ति की सत्ता से ही प्राणी जीवित रहता है, उसका शरीर बदलता है एवं व्यक्ति के देहावसान के समय जब उसकी इन्द्रियों आदि से उसके विचारों का सम्बंध विच्छेद हो जाता है तब शक्ति ही पृथ्वी को पृथ्वी में, जल को जल में, अग्नि को अग्नि में, वायु को वायु में तथा आकाश को आकाश में मिला देती है यानी पंच भूतों को पंच भूतों में मिला देती है। इस प्रकार उत्पत्ति, पालन, संहार तथा संहार करके पुनः उत्पत्ति की क्रियायें करते हुए भी शक्ति निर्विकारी रहती है और सदैव

ही सर्वत्र व्याप्त रहती है ।

उन्हें यह स्पष्ट अनुभव होता है कि विश्व के समस्त प्राणियों के भिन्न-भिन्न रूप एवं अस्तित्व होते हुए भी उनकी एक ही इकाई है। क्योंकि, एक ही परमात्मसत्ता सबकी आधार है, भले ही वे विचारों से भिन्न-भिन्न दिखलाई क्यों न देते हों। जब कोई साधक अन्तः प्रेरणा से प्रेरित होकर अनुभूति करा देने की उनसे विनय करता है तब उस गुरु को ऐसा अनुभव होता है कि उसका अपना ही वह एक भाग है या यों कहिये कि उसका साधक के लिये अनुभूति कराना ऐसा लगता है कि उसके मस्तिष्क के अनन्त संस्कारों में से एक अपरिचित संस्कार उससे अनुभूति करने को लालायित है। इस प्रकार उस साधक को अपना ही एक अविभाजित अंग समझकर अनुभूति करा देने की क्षमता वह गुरु रखता हो। उसकी दृष्टि सम हो। केवल लोकाचार के लिये 'गुरु' 'शिष्य' शब्दों का आदान प्रदान होता हुआ भले ही उनसे दिखे किन्तु उन्हें यह विवेक स्पष्ट हो कि न तो गुरू, गुरु है और न शिष्य, शिष्य है। दोनों ही प्रकृति के कार्य सम्पादन के लिये निमित्त बने हैं। एक से गुरु का अभिनय कराया जा रहा है और एक से शिष्य का। वह अपने मन में न तो अपने को बड़ा समझता हो न शिष्य को छोटा। उसके मत से दोनों के अहंकार प्रकृति के सेवक हैं।

वह सद्गुरु ऐसा हो जो अधिकारी इच्छुक साधक की श्रद्धा को अपनाकर प्रेम से कम से कम दो तीन दिन सरल से सरल ढंग से साधक को यह तथ्य हृदयंगम करादे कि जिस शक्ति की वह अनुभूति करना चाहता है वह माँ के तुल्य आदरणीय है। उसी ने उसके शरीर की रचना की है। उसी की सत्ता से वह श्वास ले रहा है। वास्तव में उसका शरीर, जिसका कि वह उपयोग कर रहा है, शक्ति का ही है। उसी की सब इन्द्रियाँ हैं, जिन्हें साधक प्रयोग में लाता है। उनके दुरुपयोग करने पर शक्ति ही भीतर से हमें रोक देती है। इस प्रकार साधक सेवक है, उस पर नियंत्रण करने वाली शक्ति है। हाँ, शक्ति का यह स्वभाव है कि वह आगे बढ़कर अपनी सत्ता नहीं थोपती। जब साधक स्वयं ही शरण में जाता है तब वह उसका मार्गदर्शन करने लगती है। सचमुच, साधक निमित्त मात्र है। शक्ति का सेवक है। उसके समस्त कार्य वस्तुतः शक्ति के ही कार्य हैं। शक्ति ही जीवननिर्वाह के लिये सर्वेसर्वा है। इस प्रकार साधक की बुद्धि में शक्ति के प्रति अत्यन्त श्रद्धा जाग्रत कर उसकी अनुभूति के लिये उसे अधीर बनादे। साथ ही उसकी मनोवृत्ति में यह निश्चय दृढ़ करादे कि शक्ति की अनुभूति उसके अहंकार को तब ही होगी जब वह यानी उसका अहंकार अत्यन्त सच्चाई से साधना के समय में शक्ति के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण की

स्थिति में हो जावे। उसे कुछ भी नहीं करना है, शक्ति जो चाहे उससे करावे। उसे तो साक्षीवत् रहना है। विचार आवें तो उस अवधि में उनमें न उलझे। इस प्रकार तथा उसके स्तर के अनुसार अनेक विधियों से साधक के अहंकार को प्रशिक्षण देकर अनुभूति करादे। अनुभूति कराने से पूर्व उसे यह भी भली प्रकार समझादे कि इस प्रकार की आत्मसमर्पण की चित्तवृत्ति से साधना में बैठा जाता है। साधना से उठकर उसे शक्ति के लिये ही कर्तव्यपालन में लग जाना चाहिये। उसे निमित्त बनकर शक्ति की उपस्थिति में अपने सब कर्म करना हैं। और अपने कर्मों को मन में शक्ति के ही समझना हैं। इस रीति से शक्ति के लिये समस्त कर्म करना ही शक्ति की अनन्य भक्ति है ।

साथ ही सद्गुरु में यह भी क्षमता हो कि वह साधक की समस्त शंकाओं का समाधान कर सके और उससे इतना घुल मिल जावे कि गुरु, शिष्य के बीच की दीवाल ढह जावे। साधक गुरु के सामने अपने हृदय को खोलदे। उससे कुछ भी दुराव न रखे। साथ ही साधक की, शक्ति अनुभूति कराने वाले गुरु में श्रद्धा उत्तरोत्तर वृद्धि करती रहे। वह समय-समय पर गुरुजी के समीप आता रहे। अपनी स्थिति से उन्हें अवगत कराता रहे और स्थिति के अनुसार गुरुजी से कर्म की बाते समझता रहे। ध्यान रहे कि मर्म की अनन्त सूक्ष्म बातें समय-समय पर गुरुजी से सत्संग होने पर ही खुला करती हैं। अतः सद्गुरु साधक को सदैव अपने से सम्पर्क साधे रखने की प्रेरणा दे और प्रेमपूर्वक सदा ही उसको मार्गदर्शन दे। साथ ही साधक की अनुभूतियां उसके लिये नवीन हों तो उनसे वह स्वयं लाभान्वित होकर अपने अन्य साधकों को भी उन अनुभूतियों के महत्व से परिचित करा दे ।

साधक की प्रगति कैसे रुक जाती है और साधक की स्थिति उसकी शक्ति की अनुभूति करने से पूर्व जैसी थी वैसी ही फिर कैसे हो जाया करती है जिससे साधक पुनः निराश हो जाया करता है इन बातों से भी साधक को सद्गुरु सदैव सावधान करते रहना अपना कर्त्तव्य समझता हो। सत्य ही, शक्ति की अनुभूति कराने के उपरान्त सद्गुरु साधक को यह तथ्य भी भली प्रकार समझा दे कि 'देखो भाई, शक्ति की अनुभूति आपको तभी हुई है जब आपने अपनी शक्ति को मानसिक रूप से आत्मसमर्पण कर दिया। अपने उत्तरदायित्व सब शक्ति के ही मान लिये। अपने शरीर को तथा अपने समस्त विचारों को मानसिक रूप से शक्ति को दे दिये। किन्तु आँख से देखी हुई बात में और मन से समझी हुई बात में बहुत बड़ा अन्तर होता है। जैसे यदि हम एक व्यक्ति को एक गाय दान में देते हैं तो दान देने के पश्चात किसी भी रूप में उस दान में दी हुई गाय

को हम अपनी नहीं मान सकते। जिसको गाय दान में दी है वह उस गाय का चाहे जैसा उपयोग करे आप उसमें हस्तक्षेप नहीं करते। दान में जो वस्तु देदी तो देदी, सदा को देदी। फिर वह आपकी रही ही नहीं। यदि संयोग से वह गाय अपने घर पर आ जावे तो उसके आगे घास डाल दें, उसे पानी पिला दें। यदि हो तोउसे एक दो रोटी भले ही खिलादें पर पूर्ववत् उसे अपनी समझकर बाँधेंगे नहीं। उसे प्रेम से घर से बाहर कर देंगे अथवा उस गाय को दान में लेने वाले के घर पहुँचा देंगे। इस प्रकार दान में दी हुई वस्तु को पुनः हम अपनी करने का साहस नहीं करते। कारण स्पष्ट है कि हम आँख से देखते हैं कि हमने गाय दान में दी है। दान लेने वाले ने गाय हमसे ली है। दान में दी वस्तु को फिर लेलेना पाप है ।

विचारणीय है कि शरीर अथवा विचारों को शक्ति को देने कहना और गाय को दान में देने की चर्चा करना यहाँ तक तो दोनों ही के देने की बात एक सी है किन्तु आँख से देने की क्रिया गाय के सम्बंध में प्रत्यक्ष है और मानसिक रूप से अपने शरीर और विचारों को शक्ति को देने की बात प्रत्यक्ष नहीं है। हाँ, केवल वही साधक जो बुद्धिमान् है खूब सोच समझकर काम करता है, अत्यन्त मनन करके बुद्धि से दृढ़ निश्चय करके ही वह अपने शरीर व विचारों को शक्ति को देता है वही उन्हें दे पाता है। उसके आत्मसमर्पण के फलस्वरूप जब शक्ति की उसे अनुभूति हो जाती है तब उस साधक की बुद्धि में शक्ति को दिये गये उसके मानसिक वचन और भी दृढ़ता से जम जाते हैं। ऐसा साधक चाहे उसने शक्ति को आँख से यह भले ही न देखा हो कि उसने साधक को शरण में लेलिया है किन्तु वह किसी भी अवस्था में दिये गये वचनों से नहीं बदलता। नित्य ही अपने को शक्ति का सेवक समझकर कर्त्तव्यपालन करता है। शक्ति के सेवक बने रहने में उसे गर्व अनुभव होता है। उत्तरोत्तर प्रसन्नता का अनुभव करता है। किन्तु इसके विपरीत जिस साधक ने शक्ति को दिये अपने वचनों को यानी पूर्ण आत्मसमर्पण के भाव को अपनी बुद्धि में भली प्रकार से दृढ़ करके नहीं बैठाया है वह प्रायः फिसल जाता है। जो व्यक्ति केवल भावुकता के वशीभूत होकर अथवा शक्ति की अनुभूति की प्रशंसनीय चर्चा सुनकर अथवा साधकों की उन बातों से प्रभावित होकर जिनमें शक्ति की अनुभूति से मानव लाभान्वित हो जाता है वह व्यक्ति भी शक्ति की अनुभूति के लिये यदि सद्गुरु से विनय करता है तो ऐसा अनुभव में आया है कि उसे भी प्रायः शक्ति की अनुभूति हो जाती है। भावुकता में ओतप्रोत हुआ साधक भी श्रद्धा और तात्कालिक विश्वास के बल पर कभी-कभी शक्ति की अनुभूति करने में सफल हो जाता है। क्योंकि शक्ति तो

प्रत्येक व्यक्ति में सदैव रहती है। साधक का केवल ध्यान उस पर नहीं जाता। किसी भी प्रकार शक्ति की ओर ध्यान आकर्षित हो जावे तो भावुक व्यक्ति को भी शक्ति की अनुभूति उस समय हो जाती है। किन्तु शक्ति के वास्तविक मर्म से भावुक व्यक्ति परिचित नहीं होता, फलतः कुछ समय बाद और कभी-कभी तो अनुभूति करने के पश्चात तत्काल ही वह आत्मसमर्पण का सही अर्थ भूल जाता है और पुनः कर्त्तापन से काम करने लगता है, मालिक बन जाता है, सेवक का भाव विस्मृत हो जाता है। ऐसी स्थिति में साधक शक्ति के प्रति उदासीन हो जाता है। उसकी अनुभूति करना, अनुभूति न करने के समान हो जाती है। ऐसे साधक प्रायः कहा करते हैं कि "साधना में क्या रखा है ? साधना व्यर्थ है।" अस्तु, सद्‌गुरु, साधक की मनोवृत्ति आदि को समझकर तथा उसकी बुद्धि के निश्चय को भली प्रकार परीक्षा लेकर ही उसे शक्ति की अनुभूति कराता है और यह तथ्य हृदयंगम कराता है कि उसे यह कभी न भूलना चाहिये कि उसके आत्मसमर्पण की प्रतिज्ञा जीवन पर्यन्त दृढ़ता से निर्वाह करने की है। यदि साधक बदल जाता है तो साधक शक्ति के क्रियाकलाप से लाभान्वित न हो सकेगा। कर्त्तापन से आने वाले सुख-दुःख के द्वन्द्वों में फँसा रहेगा ।

हाँ, एक और बात भी महत्वपूर्ण है जिसे सद्‌गुरु अनुभूति करने वाले साधकों को भली भाँति समझा देता है । वह यह है कि प्रत्येक साधक स्वयं संस्था है। उसे आगे चलकर सद्‌गुरु जैसा ही आचरण बर्तना है। सत्य ही, जैसे प्रत्येक बालक अवधि आने पर पिता का उत्तरदायित्व सम्हालता है वैसे ही प्रत्येक साधक को भी समयानुसार सद्‌गुरु के उत्तरदायित्व को सम्हालना है। प्रातः ऐसा देखने में आया है कि सद्‌गुरु के गुरुतर उत्तरदायित्व को सम्हालने में प्रायः साधक जल्दी करने लगता है। उसने जैसे ही अनुभूति की नहीं कि उसे अपने आश्रित लोगों को अथवा मित्रादि को भी अनुभव कराकर अपनी महानता सिद्ध करने की धुन सवार हो जाती है और वह अपने सद्‌गुरु की पद्धति की नकल करके लोगों को साधना में बिठा देता है। कभी-कभी तो उसे सफलता भी मिल जाती है। जिस व्यक्ति में भावुकता प्रचुर मात्रा में होती है वह भावातिरेक में आकर अपनी शक्ति की अनुभूति अपने अन्दर करने लगता है। परन्तु इस प्रकार साधक स्वयं उलझन में पड़ जाता है और जिन्हें वह अनुभव कराता है वे भी पथभ्रष्ट हुए देखे गये हैं अथवा सुने गये हैं। क्योंकि अनुभूति कराने वाले अपरिपक्व साधक में अहंकार वृद्धि करने लगता है। उसकी नम्रता गर्व में परिणत हो जाती है। उसकी प्रगति रुक जाती है। जो क्रियाऐं साधना में स्वाभाविक होती है उन्हें वह जान बूझकर करने लगता है और आनन्द

लेने लगता है फलतः साधक की स्थिति वैसी हो जाती है जैसी कि उसकी स्थिति साधना से पूर्व थी। हाँ कुछ व्याकुलता हीं और अधिक उसे सताने लगती है, उसकी शांति पुनः अशांति का रूप धारण कर लेती है। साथ ही उसके बने साधक भी एक दो बार साधना में बैठकर साधना में बैठना बन्द कर देते हैं। कभी तो क्रियाओं के वेग को नियन्त्रण में लाने से घबरा जाते हैं और कभी जब क्रियाऐं पूर्व जैसी नहीं होती तब वे निराश हो जाते हैं। फिर उनकी साधना में बैठने की रुचि नहीं रहती है। वे अज्ञान से कहते पाये गये हैं कि साधना में बैठने से कोई लाभ नहीं। सत्य तो यह है कि साधना में बैठने के साथ-साथ अपने अनुभवी सद्‌गुरु से सम्पर्क बनाये रखना अनिवार्य है। निरन्तर नम्रता से प्रश्न परिप्रश्न कर करके शक्ति के मर्म को जीवन में उतारना अनिवार्य है। ध्यान रहे ऐसा तभी सम्भव है जबकि साधक की ऐसी ही प्रेरणा हो। वस्तुतः नये साधक का जिसने अभी ही शक्ति की अनुभूति की है निरन्तर साधना में कुछ वर्षों तक बैठना चाहिये और सत्संग लाभ लेना चाहिये। कालान्तर में साधक की साधनावस्था परिपक्व हो जावेगी और उसे ऐसी क्रियायें होने लगेंगी जिनसे उसे प्रत्यक्ष अनुभव होगा कि उसकी शक्ति के माध्यम से उठने वाली तरंगें इतनी शक्तिशाली हो गई हैं कि वे देर तक एक स्थान पर रहने लगी है। फिर उसे ऐसी क्षमता आने लगेगी कि उसके एक अंग की शक्ति के माध्यम से उठाई गई तरंगें शक्ति की प्रेरणा से ही उसके देखते देखते उसी के दूसरे अंग को छूते ही उस दूसरे अंग में भी तरंगों का वेग आने लगा है। इस प्रकार की क्रियाऐं ही परिपक्व अवस्था में पहुँचने वाले साधक को जब बार बार स्वतः ही होने लगें तब ही वह परिपक्व अवस्था को प्राप्त हुआ साधक सद्‌गुरु का अभिनय करने के योग्य होगा, उससे पूर्व नहीं ।

सद्‌गुरु की महिमा सचमुच अपार है। वह शक्ति के सेवक की भावना से ओत प्रोत रहता है। उसमें कर्त्तापन की भावना आती ही नहीं और पूर्व संस्कार के वश यदि कभी आभी जावे तो शक्ति के अनुग्रह से वह तत्काल सम्हल जाता है। उसे स्पष्ट अनुभव होता रहता है कि शक्ति ही उसके अहंकार के माध्यम से साधना करवा रही है। उसी ने उसे साधना की परिपक्व अवस्था तक पहुँचाया है। उसी की प्रेरणा से उसे अन्य साधकों की अनुभूति कराने की क्षमता आई है। जब किसी पर्व आदि पर वे साधक जिन्हें उन सद्‌गुरुजी के माध्यम से अनुभूति हुई है, उनकी प्रशंसा करते हैं, उनके गुण गाते हैं अथवा उनकी श्रद्धा से पूजा करते हैं, उनका सम्मान करते हैं तो वे सद्‌गुरुजी स्पष्ट रूप से साधकों को समझाते हैं कि 'देखो भाई, औपचारिक दृष्टि से भले ही आप सत्कार करें परन्तु वस्तुतः मेरा अहंकार तो निमित्त मात्र है। सब कुछ करने धरने वाली तो माँ के

सदृश चैतन्य शक्ति ही है। वस्तुतः वही पूजनीय है। साथ ही यह भी सत्य है कि मैं साधक को पथ पर चलाने में सदैव ही चौबीस घंटे उसके साथ नहीं रह सकता। मेरा साथ कुछ घंटों का है और वह भी नित्य नहीं, जब कभी संयोग आ जावे। किन्तु जीवनाधार शक्ति का अभ्यास प्रत्येक साधक को उसके शरीर में कहीं न कहीं हर क्षण अनुभव हो सकता है। अतएव शक्ति ही वस्तुतः हमारी सद्गुरु है। देहधारी सद्गुरु तो उसका प्रतिनिधि मात्र है। अतः प्रत्येक साधक को अपनी शक्ति में निरन्तर विश्वास रखना चाहिये। प्रतिक्षण उसके निर्देशन मे सेवक की भांति कर्म करना चाहिये। साथ ही, इस तथ्य की पुष्टि देहधारी सद्गुरु के निरन्तर सम्पर्क में आने पर तथा उसके सत्संग से होती है कि शक्ति के अस्तित्व की उपस्थिति साधक के शरीर में सदैव रहती है और वह सब कुछ साधक से करवा रही है। सारांश यह है कि सद्गुरु अपने साधक को जिसे उनके माध्यम से अनुभूति हुई है भली प्रकार समझादे कि देहधारी सद्गुरु साधक की उत्तरोत्तर प्रगति के लिए परमावश्यक है । उसमें साधक की अटूट श्रद्धा होना अनिवार्य है, साथ ही साधक को यह मर्म भी स्पष्ट प्रकट कर दे कि सद्गुरु को प्रेरणा देने वाली जो अखंड शक्ति है वही शक्ति उसमें है। उसी का एक-एक अविभाजित अंश प्रत्येक साधक में है। उसकी प्रेरणाओं का पालन पूर्ण विश्वास से साधक को करना है। सचमुच, सद्गुरु अपने महत्व की सीमा निर्धारित कर देता है। उसकी सीमा में रहकर ही उसे जीवन शक्ति जो असीम है उसका महत्व समझ में आया करता है और शक्ति में उनकी निष्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है। उसके मार्गदर्शन से लाभान्वित होकर साधक अपनी जीवन शक्ति की शरण में आत्म-समर्पण किये हुए रहने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। फलतः जीवनमुक्त स्थिति उसे सहज ही उपलब्ध होने लगती है और साथ ही साथ कर्त्तव्य पालन में भी सदैव सचेष्ट रहने का वह अभ्यासी हो जाता है। सचमुच, सद्गुरु का पद मानवजीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जिस पर विराजमान होकर व्यक्ति मानव के अन्तः में विराजमान समस्त सद्गुरुओं के भी सद्गुरु के रूप में जीवनसंरक्षिणी उस शक्ति की अनुभूति करा देता है, जिसकी संरक्षकता में रहकर व्यक्ति अपने जीवन को सार्थक सिद्ध कर कृत-कृत्य हो जाता है ।

साधक की दिनचर्या

अनुभूति के उपरान्त मेरे जीवन में एक नया मोड़ आ गया। वस्तुत मानव जीवन की सार्थकता का प्रारम्भ व्यक्ति को अपनी दिव्यशक्ति की अनुभूति से होता है। अनुभूति के दिन को यदि साधक का जन्मदिवस कहा जावे तो अतिशयोक्ति नहीं है। तबसे साधक प्रत्येक कार्य, शक्ति के लिये ही करने लगता है। उसका अहंकार शक्ति के सेवक के रूप में परिणत हो जाता है। साथ ही साधना के समय तो वह अपनी दिव्यशक्ति की लीला का स्पष्ट अनुभव करता है और साधना की अवधि के उपरान्त साधक अपनी संरक्षिणी सत्ताशक्ति की उपस्थिति में उसके लिये ही कर्म करता है। उसके दृष्टिकोण से उसके समस्त उत्तरदायित्व शक्ति के हो जाते हैं और उनका भली भाँति निर्वाह हो सके इस विचार से ही वह सेवक के तुल्य उन्हें पूर्ण करने में जुटा रहता है। जिस रीति से उसे समस्त कर्म करने में सुविधा हो, उसका शरीर, जो अब उसकी शक्ति का मन्दिर है, स्वस्थ रहे तथा वह अधिक से अधिक आयु प्राप्त कर अपने सेवक के अभिनय को सफलतापूर्वक पूर्ण कर सके, उस रीति का महत्व ही सर्वाधिक है। इस रीतिं को ही साधक अपनी दिनचर्या में कैसे बर्तता है अब इसी का वर्णन किया जा रहा है। साधक की दिनचर्या प्रातःकाल शयन से उठते ही आरम्भ हो जाती है ।

सर्वप्रथम साधक शयन करके यानी अपने शरीर को पूर्ण विश्राम देकर प्रातः सूर्योदय से पूर्व उठ जाता है। यदि उसकी थकावट मिट जावे और सूर्योदय के एक दो घंटे पूर्व ही आँखें खुल जावें और आलस्य न रहे तो और भी अच्छा है। तब साधक तत्काल उठकर लघुशंका कर आवे। मुख साफ करके थोड़ा जल पीले। फिर स्वस्थ चित्त से सहज भाव से बैठकर लगभग पाँच मिनिट तक अपने वास्तविक स्वरूप के कार्यों को दुहराले। यदि हो सके तो प्रेमपूर्वक समझ-समझ कर कोई उसके विचारों को व्यक्त करने वाली कविता हो तो उसे पढ़ ले, गा ले यानी जिस प्रकार अच्छी लगे वैसे दुहराले जैसे-

व्याप रही सत्ता हितकारी, शुद्ध सच्चिदानन्द तुम्हारी। व्याप रही0
सूर्य चन्द्र नक्षत्र सितारे,
हैं स्थित तब शक्ति सहारे,
चन्दन आदि सुगंधित तरुवर, फूलेंफलें वनस्पति सारी।। व्याप रही0
सातों सागर का जल लेकर,
बरसाते घन मधुर बनाकर,

अन्नादि से सृष्टि चलाते, जीवनदाता संकट हारी।। व्याप रही0

निमित्त बनाया प्राणशक्ति को,
सेवक रक्खा अहंकार को,

सब के भीतर बैठे-बैठे, बोल रहे हैं वाणी प्यारी।। व्याप रही0

प्रेरक बन सत्संग कराते,
सुने हुए को चित्त ठहराते,

क्षण-क्षण में आनन्द दिलाते, स्वयं सदा रहते अधिकारी।। व्याप रही0

दिखें नहीं अनुभव में आते,
भक्तों को निज धर्म सिखाते,

सुख दुःख से ऊपर उठवाते, विश्व गुरु हे विश्व पुजारी ।। व्याप रही0

तत्पश्चात शौचादि से निवृत्त होकर साधक मुख मार्जन करे। यदि नीम या बबूल की दांतुन उपलब्ध हो तो नीम या बबूल की दांतुन करें। यदि आँधाझरा (अपामार्ग) उपलब्ध हो तो उसकी जड़ के ऊपरी भाग को, जहाँ जड़ों के तन्तु न हों, पहले दांतों से कुचलकर अच्छी कूँची बनाले फिर उससे दांतों को साफ करें। जीभ साफ करने के लिये इन्हीं दांतुन को खड़ी चीरकर दो भाग करले। उनसे जीभ साफ करले। यदि ये दांतुन उपलब्ध न हों तो मंजन का प्रयोग करें। दाँतों को मजबूत, मसूड़ों को कड़े तथा मुख की बदबू आदि दूर करने वाले मंजन मिल सकते हैं। आप चाहें तो आप स्वतः भी उनकी विधि जानकर बना सकते हैं। मंजन करने की स्थिति में ताँबे की बनी जीभी ली ली जा सकती है, उससे जीभ साफ करलें। वस्तुतः साधक का जीवन सादा होना चाहिये, फालतू व्यय न करें, साथ ही उपयोगी वस्तुओं को आवश्यकतानुसार अवश्य लेलें। वस्तुतः उसे अपव्ययी नहीं होना चाहिये, किफायतशिआर होना चाहिये। पेस्ट, ब्रुश आदि का उपयोग यथा सम्भव न किया जावे। परिस्थति वैसा करने को विवश करदे तो ही उनको प्रयोग में लावे। दंतधावन क्रिया के उपरान्त यदि सुविधा हो तो सरसों के तेल से शरीर की हल्की मालिश करके स्नान करले और तौलिया से बदन को रगड़कर पोंछ ले फिर साधना में बैठ जावे। ध्यान रहे कि सिर के बालों को बिल्कुल सुखा लिया जावे। और यदि स्नान आदि की सुविधा न हो तो बिना स्नान किये हुये ही साधना में बैठ जावें। बाद में जब सुविधा हो स्नान करलें। साधना कक्ष जहाँ तक सम्भव हो पृथक् से ही हो तो अच्छा है। कम से कम 8'×8' का तो होना ही चाहिये। कमरे में अन्य सामग्री न रखी जावें। बीचों बीच कमरे में कम्बल बिछा लिया जावे। कम्बल के

अभाव में दरी आदि भी बिछाई जा सकती है। कमरे को सुगंधित बना लेना अच्छा है। गूगल, अगरबत्ती आदि जलाई जा सकती है। यदि कमरे में सद्गुरु का चित्र हो तो ठीक ही है। वह साधक को प्रेरणा देने के स्त्रोत का काम करेगा। साधना की अवधि में ध्यान रहे कि साधक को अपनी तरफ से कुछ नहीं सोचना है। उसे कुछ करना भी नहीं है। जो भी क्रियाऐं आदि हों उन्हें होने दे। न तो उन्हें रोके और न उन्हें आनन्द का स्त्रोत समझकर अपनी तरफ से अधिक करने की चेष्टा करे। जब शरीर हल्का होने लगे। शक्ति का वेग कम हो जावे तब साधनाकक्ष से बाहर आ जावे। साधना में बैठते समय शरीर पर कम से कम वस्त्र हो। बैल्ट, घड़ी आदि सब उतारकर रख दें। यदि कभी साधना की दैनिक अवधि से पूर्व ही आँखें खुल जावें और शरीर हल्का हो जावे तो कुछ सैकेण्ड वैसा ही बैठा रहे, उठे नहीं। शनैः शनैः पुनः आँखें बन्द होने लगेंगी और शरीर में वेग फिर से आने लगेगा। जब साधना की नित्य की अवधि लगभग पूर्ण हो रही हो तब साधक उठकर कक्ष से बाहर आजावे। हाँ, साधना के कक्ष को साधना के ही उपयोग में लाया जावे तो सर्वोत्तम है। क्योंकि साधनाकक्ष में साधक की विचारधारा तथा विद्युत तरंगे कमरे की वायु में भरी रहती हैं, जिनसे साधना में उसे बहुत सहायता मिलेगी। अनुकूल वातावरण रहेगा। यदि मकान की कमी के कारण पृथक् कक्ष बनाने की असुविधा हो सुविधानुसार साधना के लिये परिस्थिति के अनुसार स्थान बनालें। ध्यान रहे साधना की क्रियाओं का प्रदर्शन कभी न किया जावे जिससे गैर साधकों की टीका टिप्पणी से राहत मिलेगी। साथ ही साधक बनने का अहंकार भी न उभरेगा। बीज खुले नहीं तो अच्छा है। खुल जाने पर उगेगा नहीं। ढके हुये को खाद, पानी दिया जावे तो अंकुरित जल्दी होगा। अंकुरित होने पर दिखेगा तो अवश्य पर उसकी सावधानी से रक्षा भी करते रहना आवश्यक है। इसी प्रकार साधना की क्रियायें गुप्त रहें तो अच्छी हैं। प्रकट होने पर प्रायः साधक अपनी क्रियाओं से अन्य साधकों की क्रियाओं से मिलान करने लगता है और यदि दूसरे साधक की क्रियाऐं उसे अच्छी लगती हैं और उसकी क्रियाऐं वैसी नहीं होती तो वह हतोत्साहित हो जाता है और यदि उसकी क्रियाऐं दूसरे साधकों से अच्छी होती हैं तो अन्य साधक उसकी क्रियाओं की प्रशंसा करेंगे। प्रशंसा को सुनकर साधक का अहंकार उभर आवेगा जिससे साधना में बाधा पड़ सकती है। अतः साधक अपनी क्रियाओं को गुप्त ही रखे तो अच्छा है। हाँ, सद्गुरु से सम्पर्क अवश्य रखे और उनसे उनका महत्व समझता रहे। साथ ही अपने स्तर की भी जानकारी लेता रहे जिससे उसकी उत्तरोत्तर प्रगति होती रहे।

साधना के उपरान्त यदि भूख मालूम हो तो एक या डेड़ कप दूध लेलें। दूध न

मिले तो जो मिले सो लेले पर पदार्थ शीघ्र पचने वाले हों। यदि भूख न लगे तो कुछ भी न लेना ही अच्छा है। स्वल्पाहार लेने की अवधि से दोपहर के भोजन पर्यन्त जितना भी समय मिले उसका सदुपयोग करे। समय को ही धन कहते हैं। यदि गृह कार्य करने हों तो उन्हें करे और यदि कुछ भी कार्य न हो तो स्वाध्याय करे। स्वाध्याय करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि ऐसी पुस्तकें अथवा लेखादि पढ़े जावें जिनसे कर्त्तापन के भाव न उभर पायें। ऐसे ही भाव आवश्यक हैं जो हमें निमित्त बनाये रखें और अपनी स्वामिनीशक्ति के सेवक की भाँति कर्म करने में हमें बल देते रहें। साथ ही सेवक भाव से कर्म करने में हमारी रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, हमें प्रसन्नता अनुभव होती रहे और ऐसा अनुभव हो कि बुद्धि का सदुपयोग हो रहा है।

दोपहर का भोजन साधक अपने निश्चित समय पर ही करे। यथासम्भव भोजन सात्विक ही हो तो बहुत अच्छा है। सात्विक भोजन से यही अभिप्राय है कि ऐसा भोजन हो जो शीघ्र पच जावे। गरिष्ट वस्तुऐं जैसे पकवान, मिठाईयाँ, तले हुये पदार्थ, मिर्च मसाले की मात्रा जिनमें अधिक हो, न लिये जावे। इन पदार्थों के भोजन में शरीर में आलस्य की मात्रा अधिक हो जावेगी जिससे कर्त्तव्यपालन में बाधा आवेगी। शरीर निरोगी न रह सकेगा। फलतः दैनिक साधना में रुकावट आ सकती है। प्याज, लहसुन आदि वस्तुऐं जीभ के स्वाद के लिये हैं। इनसे विशेष लाभ नहीं। इन्हें विशिष्ट रोगों की औषधियाँ कहा जाता है, सामान्य भोजन के पदार्थ नहीं। ऐसे ही मांस, मदिरा आदि नशीली वस्तुऐं तामसी हैं। तामसी वृत्ति वाले ही इन वस्तुओं को प्रायः पसन्द करते हैं। सच तो यह है कि हम भोजन के लिये जीवित नहीं हैं, वरन् जीवन के लिये ही भोजन है। इस तथ्य से विवेकी अपरिचित नहीं ।

भोजन के उपरांत साधक को स्वल्प विश्राम लेना चाहिये। विश्राम करके कर्त्तव्यपालन में लग जाना उचित है। यदि साधक वृत्ति करता हो तो सेवा के क्षेत्र को जावे। व्यापार आदि करता हो तो दुकान आदि पर जावे। यदि कोई अन्य व्यवसाय करता हो तो उसकी देखभाल करे। चाहे जिस ढंग का कर्त्तव्य क्षेत्र हो उसे उस क्षेत्र में जाना अनिवार्य होगा। बिना कार्य किये हुए कर्त्तव्यपालन होवेगा नहीं अतः कर्त्तव्यपालन में प्रमाद न आने दें। साथ ही यह बात कभी भी विस्मरण न हो पाये कि साधक तो निमित्त मात्र है, सेवक है, स्वामी नहीं। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि यदि साधक श्रमजीवी है और उसके कर्त्तव्यक्षेत्र में काम करने की अवधि का क्रम ऊपर बताये गये क्रम से भिन्न है और यदि भिन्न-भिन्न तिथियों में भिन्न-भिन्न समय पर उसे

काम करने जाना पड़ता हो तो साधक अपनी सुविधानुसार अपनी दिनचर्या बनाले। परन्तु काम करते समय सबकी भावना एकसी ही होगी। यानी उसे निमित्त बनकर सेवक सदृश भाव से कर्त्तव्यपालन करना है। ऊपर बताई गई अब तक की दिनचर्या की बातें सभी साधकों की एकसी हैं। साथ ही काम करने का ढंग भी सभी का एकसा है यानी सभी सज्जन ऊपर से तो काम करते समय 'मेरा, तेरा' प्रयोग में लावेंगे किन्तु उनके मन में सदैव यह भाव रहेगा कि वे अपनी स्वामिनीशक्ति के लिये उसके दिये हुए कर्त्तव्य का पालन, निमित्त बनकर, कर रहे हैं। जैसे सेवक अपने स्वामी का काम करता है वैसे ही साधक भी शक्ति के लिये अपने प्रत्येक काम को करता है।

कर्त्तव्यक्षेत्र से वापिस आने पर यदि भूख अनुभव हो तो अत्यन्त स्वल्प आहार लिया जा सकता है। कच्ची खाई जाने वाली शाक भाजी जैसे गाजर, टमाटर आदि पके फल आदि का सलाद उपलब्ध हो तो अच्छा है, अन्यथा परिस्थिति के अनुसार थोड़ा आधार हो जाना पर्याप्त है। फिर यदि बाजार आदि के कुछ गृह कार्य करना हों अथवा अन्य आवश्यक कार्य करने हों तो उन्हें कर लिया जावे। फिर संध्या के समय पुनः शौचादि से निवृत होकर स्वस्थ चित्त एवं आत्मविश्वास से साधनाकक्ष में पहुँचकर साधना में बैठ जावे। साधना पूर्ण होने पर जब शरीर में हल्कापन आ जावे तब साधनाकक्ष से उठकर बाहर आ जावें। यदि दैनिक ही गुरुजी से सम्पर्क रखने की सुविधा हो तो उनसे सम्पर्क बनाये रखना सर्वोत्तम है। नित्य ही मार्गदर्शन मिल सकेगा। उत्साह में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहेगी। यदि गुरुजी से अथवा किसी अनुभवी वरिष्ठ साधक से मिलने का योग न हो तो साधक, साधना सम्बन्धी साहित्य को थोड़ी देर पढ़े और मनन करे। फिर भोजन का समय होने पर शान्त चित्त से भोजन करे। भोजन के उपरान्त यथासम्भव लगभग आधा घंटे टहल ले। जहाँ तक हो व्यक्ति, मंडली के साथ में रहकर न तो पढ़े न गृह कार्य करे। अकेले स्वयं ही काम करने में प्रायः सुविधा रहती है। किसी की प्रतीक्षा में समय व्यर्थ नहीं जाता। मित्रों के विचारों में प्रायः भिन्नता होती है। उनकी कही हुई बातों में एकदम वह उलझे नहीं। सोच समझकर उनकी बातों में ध्यान देना हितकर है। अच्छा तो यह है कि अपनी धुन में मतवाला बना साधक सहर्ष अपने कर्त्तव्यपालन में रत रहे।

टहलने के उपरान्त शान्त चित्त से जल आदि पीकर शयन के लिये यथा स्थान जावे। निद्रा आने से पूर्व लगभग पाँच मिनिट को पुनः बैठकर परमात्मतत्त्व की महत्ता पर विचार करे अथवा तत्सम्बंधी कोई भजन अथवा गीत हो तो उसे प्रेमपूर्वक पढ़ले या

गा ले। गीत इस प्रकार का हो सकता है जैसे –

नाथ आपकी सत्ता के बल होते काम जगत के सारे ।

घट घट व्यापी अन्तर्यामी हो तुम ही आदर्श हमारे ।।

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति में भी रहते नित्य उपस्थित तुम हो ।

आनन्द में नित डूबे रहते स्वयं प्रकाशित सत्य तत्व हो ।।

बन्धनमुक्त हुई है प्रकृति प्रेम भाव में डूबी तेरे ।

रहती हरदम दिखती मुझको, करती काम सभी कुछ मेरे ।।

नित्य नाचतीं सभी इन्द्रियाँ उठते हुए विचारों के बल ।

देत शक्ति आदेश आपकी नियम पालती निर्मल निश्चल ।।

होने लगा है दिन प्रतिदिन ही अहंकार भी निर्बल भगवन् ।

बनकर साक्षी उठता दिखता अब सुख-दुःख से ऊपर 'मैं पन' ।।

इस गीत के गाने से सोते समय साधक इस विश्वास से निद्रा के वशीभूत होगा कि शक्ति के अनुग्रह से उसका अहंकार स्वामीपन की अनाधिकार चेष्टा करना छोड़कर सेवक का आचरण करने लगा है, जिससे उसे साक्षीभाव में आना सुगम होता जा रहा है। फलतः कर्त्तव्यपालन में आने वाले सुख दुःख के प्रवाह में बहते-बहते वह यथासम्भव सम्हल जाता है। उसका मस्तिष्क निश्चय ही अब संतुलन में काम करने लगा है। चित्त में शान्ति अनुभव हो रही है ।

मैं अपने अनुभव के आधार पर यह कह सकता हूँ कि साधनामय दैनिक जीवन व्यतीत करने से साधक का शनैः शनैः यह संस्कार पुष्ट होने लगेगा कि वह कर्म का कर्त्ता नहीं वरन् निमित्त मात्र है। फलतः साधक की कर्म में स्वयं के लिये आसक्ति तो कम होने लगेगी और शक्ति के रूप में स्वामी के प्रति अधिक होने लगेगी। कालान्तर में इसका परिणाम भी अनुभव होने लगेगा कि भोग विलास आदि की वासनाओं में स्वतः ही कमी आने लगी है। जहाँ पूर्व में आसक्ति से काम करने में प्रतिकूल स्थिति के आते ही व्याकुलता आने लगती थी अब उसमें भी कमी हो जावेगी। साथ ही स्वयं की आसक्ति से जब उसके जैसा काम उसके आश्रित नहीं करते थे तो उसे क्रोध आ जाता था अथवा

उसके आयु मे छोटे परिवार के सदस्यों ने उसके आदेशानुसार काम करने में टालमटूली की नहीं कि उसको तुरन्त ही क्रोध आ जाता था वहाँ अब स्वामी के लिये कर्म करने में यानी स्वयं के प्रति अनासक्ति से काम करने में उसके आदेशों की अवहेलना पर क्रोध सोच समझ कर ही आवेगा और मर्यादा के भीतर ही रहेगा। काम, क्रोध की भाँति अब लोभ की मात्रा में भी उसे स्पष्ट कमी अनुभव होगी। वस्तुतः व्यक्ति स्वयं की आसक्ति से ही किसी प्रिय वस्तु के त्याग करने में हीला हवाली करता है। ऐसे ही यदि विचार किया जाय तो यह भी अनुभव होने लगेगा कि मोह यानी देहादि में आत्मबुद्धि यानी ममता का भाव भी सहज रूप से शनैः शनैः घटने लगा है। दैनिक जीवन में कम से कम दो बार तो प्रातः सायं आत्मचिन्तन में साधक अपने शरीर को मन्दिर सम्बोधन करेगा ही और स्वयं को पुजारी। वस्तुतः पुजारी ही मन्दिर की देख रेख रखता है, उसकी झाड़ा पोंछी करता है तथा टूट फूट की मरम्मत करता है। इस प्रकार वह स्पष्ट समझने लगेगा कि मन्दिर की झाड़ा पोंछी, टूट फूट की मरम्मत उसकी स्वयं की झाड़ा पोंछी नहीं है न उसकी टूट फूट हे। इस प्रकार की विचारधारा शनैः शनैः साधक के मस्तिष्क में संस्कार डालेगी कि वह स्वयं देह नही है वरन् देह उससे पृथक् है। देहवासना से देह का सम्बंध है, उससे नहीं। वह तो उससे परे अविकारी है। और अविकारी समष्टि का ही एक अंश है।

अब यदि ध्यान दिया जाये तो साधक में मद यानी घमंड भी उत्तरोत्तर कम होने लगेगा। व्यक्ति को प्रायः उस समय घमंड आया करता है जबकि वह अपने को दूसरों से विद्या, बुद्धि, धन, परिवार, कौशल आदि में बड़ा समझता है। किन्तु साधक में अपनेपन का भाव स्वामीपन के भाव जैसा नहीं होता। स्वामी के स्थान पर उसमें सेवक का भाव होता है। वस्तुतः सेवक का भाव यहाँ केवल निमित्त मात्र है। सत्य ही जिसके द्वारा कोई काम कराया जाय और काम भी यंत्रवत् हो तो व्यक्ति का अस्तित्व मशीन में लगे हुए एक पुर्जे के समान ही तो होगा। एक पुर्जा स्वतंत्र रूप से तो कुछ करता नहीं, अतः उसे काम करने का घमंड हो भी कैसे सकता है? काम मशीन करती है, मशीन से काम लेने वाला मशीन का मालिक होता है। उसे अनुभव होता है कि मशीन के पुर्जे की शक्ति का उपयोग तो वस्तुतः बहुत ही अल्प होता है और वह भी और पुर्जों पर अवलम्बित होता है, अतः पुर्जे को घमंड वैसे तो होगा ही नहीं और होगा तो बहुत ही साधारण। ऐसे ही निमित्त बने साधक में मद यानी घमंड यदि होगा तो नाम मात्र को होगा, उसका मूल्याकंन नहीं के बराबर ही होगा। अब किंचित् और ध्यान दें तो साधक में मत्सर का

भाव भी शनैः शनैः कम होने लगेगा। मत्सर कहते है डाह करने को, द्वेष करने को। व्यक्ति द्वेष करता है प्रायः उसी व्यक्ति से जो उससे अपेक्षित उस काम को उत्तमता से करदे, जो उस व्यक्ति से स्वयं से तो कराई न आवे और जिसे करने की जिसमें ठसक बहुत हो। विचारणीय है कि साधक स्वामी के काम करने में केवल निमित्त होता है यदि ठसक हो सकती है तो स्वामी को हो सकती है और यदि स्वामी को द्वेष होता है तो अपने प्रतिद्वन्द्वी पर ही होगा। जो निमित्त मात्र है उसमें न तो उसमें ठसक होती है और न उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी होता है। अतः स्पष्ट है कि निमित्त बनकर स्वामी के लिये सेवकवत् कर्म करने वाले साधक की मत्सर की भावना भी शनै शनै कम होने लगेगी।

संक्षेप में यदि यह कहा जाये कि साधक का दैनिक जीवन यदि ईमानदारी से व्यतीत किया जाय तो मानव की बुद्धि का ह्रास करने वाले उसके छै शत्रुओं का यानी काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर का वेग शनैः शनैः कम होने लगेगा, मर्यादित हो जावेगा। साधना में मुझे एक बार ऐसा प्रश्न उठा कि क्या साधना का अधिकारी गृहस्थ धर्म का पालन नहीं कर सकता ? क्योंकि गृहस्थ धर्मपालन के लिये काम, क्रोधादि विकार आवश्यक हैं। बिना काम के सन्तानोत्पत्ति हो ही नहीं सकती। ऐसे ही बच्चों को नियंत्रण में रखने के लिये कुछ न कुछ क्रोध तो करना ही पड़ेगा और साधना में काम और क्रोध की वृत्ति का दमन हो जाता है तब जो गृहस्थ नहीं है उन्हीं को साधना हितकर हो सकती है। गृहस्थियों के लिए साधना उपयोगी कैसे हो सकती है? मेरे इस प्रश्न का जिस विचारधारा से समाधान हुआ वह विचारधारा, जहाँ तक मुझे स्मरण है, इस प्रकार है कि साधना गृहस्थियों और ब्रह्मचारियों दोनों को समान रूप से हितकर है। जो सज्जन ब्रह्मचारी हैं और जिनकी आयु गृहस्थ धर्म के उपयुक्त आयु से अधिक हो गई है उन्हें तो काम, क्रोधादि के वेग से ऊपर उठना ही चाहिये। किन्तु जो गृहस्थ हैं और गृहस्थ धर्म का पालन कर रहे हैं उनको भी साधना उतनी ही हितकर है जितनी ब्रह्मचारियों को। वस्तुतः काम, क्रोधादि को व्यक्ति के विकार कहा जाता है। जैसे छींक आना, नाक में मल का आना, डकार आना, वायु का उसरना, उबासी लेना या मल मूत्र विसर्जन करना आदि क्रियाऐं शरीर के लिए उपयोगी है। क्योंकि ये क्रियायें शरीर को हल्का एवं स्वस्थ बनाती है। किन्तु यदि किसी व्यक्ति को छींके ही छींके आती रहें या उसकी नाक दिनभर बहती ही रहे, अनेक बार मलमूत्र विसर्जन करते हुए भी उसे हाजत बनी ही रहे तो फिर ये विकार है उनका निदान करना आवश्यक है। ऐसे ही गृहस्थ धर्म के पालन में मर्यादानुसार काम, क्रोध के संस्कार उभरते है तो वे शरीर को स्वस्थ बनाने

में योग देते है। किन्तु यदि कामातुर हुआ व्यक्ति भोग विलास में ही पड़ा रहे तो ऐसा काम घातक है। ऐसे ही जो गृहस्थ बात-बात में क्रोध व्यक्त करे। बच्चों को मारता पीटता ही रहे तो ऐसा क्रोध भयंकर हानिप्रद है। अस्तु, काम अथवा क्रोध मर्यादा से बाहर न जावें। उनके वेग दबे रहें। स्वाभाविक रूप से ही वे उभरें तो उनका उपयोग हानिकारक नहीं कहा जा सकेगा। यदि वे विकार न निकलें तो वे शरीर को हानि ही पहुँचावेंगे।

सत्य ही, गृहस्थ धर्म के पालन करने वाले को जब स्वाभाविक क्षुधा अनुभव होती है तब उसे बिना भोजन किये चैन नहीं मिलेगा। यदि वह भूख को मारता है और भूखे मरने को बड़ा धर्म समझता है तो यह उसका अज्ञान है। इस प्रकार से भूखे रहना अधर्म है। किन्तु यदि कुनकुनी भूख में यानी जब भूख अच्छी तरह से न लग रही हो तब कोई भोजन करले तो उसे कुपच हो जावेगा। वह रोगी बन जावेगा। और यदि भरे पेट पर कोई डटकर भोजन करले तो उस व्यक्ति की दशा अत्यन्त शोचनीय हो जावेगी। लेने के देने भी पड़ सकते हैं। ऐसे ही भोग विलास के विषय में समझा जा सकता है। जबकि गृहस्थ के लिये भोग उसी स्थिति में हितकर सिद्ध होगा जबकि भोगेच्छा स्वाभाविक रूप से उभरे और उसे टालने के प्रयास करने से शरीर में शुक्र सम्बंधी विकार आदि खड़े हो जावें। इस स्थिति में भोग अहितकर न होगा। ऐसे अवसर पर साधक अनासक्ति से केवल औपचारिक रूप से गृहस्थ धर्म समझकर अपने को निमित्त माने हुए स्वामी के लिये ही इस गृहस्थ धर्म का पालन करेगा। जिससे मर्यादानुसार भोग की क्रिया भी हो जावेगी और गृहस्थ साधक को आसक्ति भी न होगी। साधक विषयासक्त नहीं होता। काम का कीड़ा बना भोग नहीं भोगता। उसका भोग सावधानी पूर्वक होता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार की सावधानी से साधक भोजन करता है। भोजन में न तो विशेष स्वाद लेता है और न भोजन की अवहेलना करता है। कर्त्तव्य, कर्त्तव्य के लिये ही पालन किया जाता है, आसक्तिवश नहीं।

ऐसे ही बच्चों व आश्रितों के प्रति व्यवहार करते समय आवश्यकतानुसार क्रोध भी व्यक्त करता है। परन्तु उसका क्रोध मर्यादा से बाहर नहीं आता। साधक को विदित होता है कि प्रत्येक व्यक्ति की विचारधारा भिन्न होती है उस जैसी नहीं। यदि कोई उसके आदेशानुसार नहीं बर्तता तो साधक उस पर क्रोध व्यक्त करके अपना रक्त जलाकर अपने शरीर को, जो कि दृष्टि में परमात्मासत्ता का मन्दिर है, नहीं बिगाड़ता। अतः जहाँ तक बने प्रेम से ही काम निकाल लिया जावे, यही अच्छा है। क्योंकि काम निकालना

आवश्यक है। साथ ही यदि उसे यह भी अनुभव है कि उसके बच्चों आदि के ऐसे संस्कार है कि बिना डाटे वे काम करेंगे ही नहीं तो फिर वह उन्हें डाँटकर, क्रोध दिखाकर काम करने के लिए उन्हे विवश कर सकता है। इस प्रकार का आचरण वही विवेकी साधक करेगा जो जानता है कि क्रोध उसे इसलिए करना है कि ये लोग डर जावें और काम करने लग जावें। उसे ज्ञान है कि क्रोध को इतना नहीं बढ़ाना है कि वह स्वयं ही आपे से बाहर हो जावे और उसका भयंकर प्रभाव उसके शरीर पर पड़े। अतः वह क्रोध वैसे ही व्यक्त करेगा जैसा कि रंगमंच पर एक पात्र क्रोध का अभिनय करता है। देखने वाले लोग तो उसके क्रोध के ढंग से काँप भी सकते हैं किन्तु सचमुच उस अभिनेता पर क्रोध का भीतर से कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। चूँकि साधक में आसक्ति नहीं होती, वह निमित्त मात्र होता है अतः वह सावधान रहता है। काम, क्रोध आदि विकारों के रहस्य को वह समझता है कि ये विकार शरीर के अहंकार के आवश्यक धर्म है। पूर्णतः रोके नहीं जा सकते। जब विकार आवें तो स्वाभाविक रूप से उन विकारों को निकल जाने दे। किन्तु यदि ये विकार अपना अस्तित्व जमाकर खुलकर आवें और उस पर हावी हों तो फिर स्वामी के लिये काम करने में सेवक को अड़चन होगी। अतः उनका रोकना धर्म है, उन्हें मर्यादा में ही रहना उचित है। तभी साधक स्वामी के लिये सावधानी से कर्म कर सकेगा। इस प्रकार साधक, धर्म का पालन कर सकता है। विवेचन से स्पष्ट है कि जैसे ब्रह्मचारी साधना से लाभान्वित हो सकता है वैसे ही गृहस्थ भी साधना से लाभ उठा सकता है। सचमुच साधना से गृहस्थ धर्म का पालन उत्तमत्ता से ही होगा यह अनुभूत तथ्य है।

चिकित्सकों का सर्वोत्तम सहायक

अनुभूति होने से पूर्व शारीरिक व्याधियों के उपचार का एकमात्र साधन मेरा यही था कि मैं डाक्टरों या वैद्यों की शरण लूँ। जो भी औषधियाँ वे रोग निवारणार्थ देते थे उन्हें ही विश्वासपूर्वक सेवन किया करता था और जैसा वे पथ्य बताते थे वैसा ही पथ्य लेता था। कभी देर से या कभी जल्दी स्थिति के अनुसार रोग दूर हो जाते थे। किन्तु अनुभूति होने के बाद यह अनुभव हुआ कि चिकित्सक महोदयों के मस्तिष्क में वैद्यक के ग्रन्थों को पढ़ने के अथवा व्यवहारिक रोगों के इलाज करने के स्मृति चिन्ह निर्मित हो गये है। उन चिह्नों के अनुसार ही वे बर्तते है। बुद्धि को सक्रिय करने वाली परमात्मसत्ता अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यद्यपि सत्ता आँख से दिखलाई नहीं देती, किन्तु उसका प्रभाव बुद्धि को सक्रिय बनाने में अवश्य होना चाहिये, अन्यथा बुद्धि न तो स्वयं से स्मृति चिह्न बना सकती, न बाह्य स्मृतिचिह्नों को ग्रहण कर सकती और न समझी हुई अथवा सुनी हुई बातों को मस्तिष्क में सुरक्षित रख सकती है। हाँ, यह सत्य है कि जो सत्ता बुद्धि को अपनी कहती है वह है व्यक्ति का 'अहंकार'। चिकित्सक की समस्त जानकारी वस्तुत: चिकित्सक के 'अहंकार' की है और 'अहंकार' जिस सत्ता से प्रेरित हुआ कर्म करता है वह सत्ता है 'प्राणशक्ति'। यह प्राणशक्ति या कुंडलिनीशक्ति सब काम समझ बूझकर करती है, इस रहस्य की जानकारी सभी साधकों को होती है। अत: ऐसा कहना असंगत न होगा कि व्यक्ति के रूप में चिकित्सक का अहंकार ही वह डाक्टर या वैद्य है जो हमारे रोगों को दूर करने के लिये औषधि बतलाता है या स्वयं देता है। किन्तु, चिकित्सक को रोगी के रोग का उपचार करने में जो सर्वाधिक सहायता देती है वह है रोगी की शक्ति यानी कुंडलिनीशक्ति जो उसे चिकित्सा करने में सहायता प्रदान करती है। यह अनुभूत तथ्य है कि चिकित्सक औषधि देता है, किन्तु उसे पचाकर शरीर में व्याप्त करने वाली रोगी की शक्ति ही है। ऐसे ही चिकित्सक को औषधि देने को निर्णय देने वाली चिकित्सक की शक्ति रोगी की शक्ति ही है।

यह प्रेरकसत्ता प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर सदैव रहती है और व्यक्ति की बुद्धि को प्रशिक्षण देती रहती है। किन्तु यह बात तभी अनुभव में आती है जबकि साधक का अहंकार अपने को शक्ति की शरण में समझे यानी वह अपनी बात किंचित् भी न चलावे। तब उसे स्पष्ट अनुभव होगा कि बुद्धि के आदेश से शरीर तथा इन्द्रियाँ एक विशेष ढंग से स्वयं ही काम कर रही है और उस ढंग से वे व्यक्ति के रोगादि को भी दूर

करने के प्रयास में जुटी है। हाँ, शरीर आदि में विटामिन्स आदि की कमी होने पर वह व्यक्ति के अहंकार को प्रेरित करती है कि वह योग्य डॉक्टर या वैद्य की सहायता ले। इस ढंग से चिकित्सकों से ज्ञान की सहायता भी शक्ति लिया करती है। यदि विटामिन्स आदि की शरीर में कमी न हो तो शक्ति स्वयं ही ऐसी क्रियाऐं करती है जिनसे शरीर स्वस्थ हो जाता है। इस दृष्टि से नसों का सरक जाना, मोच आ जाना, नल उतर जाना, कुपच आदि से सिर का दुखना, पेट में दर्द होना आदि कष्टों को तथा त्वचा सम्बंधी रोग आदि को शक्ति विशेष रूप से साधना की अवधि में ही दूर करने का प्रयास करती है। साधक को स्पष्ट रूप से अनुभव होगा कि स्वास्थ्य सुधर रहा है। और यदि व्यक्ति को विटामिन्स आदि की आवश्यकता है तो वह प्रेरणा करेगी कि सुयोग्य चिकित्सक की सलाह से औषधि ली जावे और यदि सुयोग्य चिकित्सक उपलब्ध न हो तो खुराक (डाइट) बदलने की प्रेरणा देती है जिससे साधक का मन, उन सब्जियों आदि को खाने की ओंर चलने लगेगा जिनके सेवन करने से उसके शरीर को आवश्यकतानुसार विटामिन्स उपलब्ध हो जावें। सचमुच, सुयोग्य डाक्टर या चिकित्सक बाहर से सहायता कर सकते है पर भीतर से औषधि पचाने की क्रिया, हड्डी जोड़ने की क्रिया, घाव आदि भरने की क्रिया आदि तो भीतरी शक्ति ही करती है। चूँकि बाहर से सहायता देने वाले डाक्टरों तथा वैद्यो को भी भीतरी शक्ति पर निर्भर रहना होता है अतः भीतर रहने वाली शक्ति ही वस्तुतः चिकित्सकों की सर्वोत्तम सहायक है और यह शक्ति सदैव ही प्रत्येक व्यक्ति के भीतर विद्यमान रहती है और जो व्यक्तियों की सहायता नित्य ही 24 घंटे करने में तत्पर रहती है। उन्हें स्वस्थ रखने के लिये खाये हुए अन्नादि को पचाती है, रक्त का संचालन करती है, तथा शारीरिक एवं मानसिक नाड़ियों को विधिवत् कार्य करते रहने की व्यवस्था करती है।

यदि किंचित् सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें कि समस्त शारीरिक अथवा मानसिक रोगों की जड़ क्या है ? तो अनुभव में यही आया है कि किसी भी रोग के आक्रमण करने से पूर्व व्यक्ति के मन में विकार आने लगता है, मस्तिष्क में गड़बड़ी पड़ जाती है। कोई भी साधारणसी प्रतिकूल घटना अविवेकी व्यक्ति को तुरन्त विचलित कर देती है। मन का प्रभाव व्यक्ति की भूख पर पड़ता है। यह अनुभूत तथ्य है कि दुःख में भूख नहीं लगती। भोजन करने में व्यक्ति अरुचि अनुभव करता है। फलतः उसकी पाचन क्रिया में गड़बड़ी पड़ने लगती है। पाचन क्रिया की गड़बड़ी से सिर में दर्द हो जाना स्वाभाविक है। मल सूख जाता है। जीभ सूखने लगती है। ज्वर आने लगता है। मल की गड़बड़ी से बबासीर आदि रोग खड़े हो जाते है। बस, एक के बाद दूसरा रोग तैयार रहता है। नींद

नहीं आती। नींद लाने के लिये गोलियाँ आदि खानी पड़ती है। बेचैनी बढ़ने लगती है। कभी पसीने में ही पानी पी लिया। यह ध्यान नहीं रहता कि पसीने में पानी नहीं पीना चाहिये। फलतः जुकाम हो जाता है। जुकाम खांसी को जन्म दे देता है। सारांश यह है कि मन से अस्वस्थ होते ही नाना प्रकार की बीमारियाँ व्यक्ति को आ दबाती हैं। बीमारियों को दूर करने के लिये कभी इन्जैक्शन लगवाने पड़ते है तो कभी विजातीय द्रव्य मिश्रित औषधियाँ सेवन करनी पड़ती है। विजातीय द्रव्य शरीर में पहुँचकर अनेक प्रकार के नवीन विकार खड़े कर देते है। एक बीमारी दूर नहीं होने पाती कि दूसरी बीमारी खड़ी हो जाती है। व्यक्ति बीमारियों का शिकार हो जाता है। उनसे इतनी बुरी तरह से दब जाता है कि फिर उसका उबरना दूभर होता है।

अतएव साधक जब साधना में कुछ समय के लिये बैठता है तो उसे अपनी तरफ से कुछ भी सोचना नहीं पड़ता। यदि विचार आते हैं तो वह उनमें उलझता नहीं। यदि वह उलझता है तो उसे अपनी बात ही चलानी होगी और अपनी बात चलाते ही साधना समाप्त हो जाती है। जब तक साधक अपनी ओर से कुछ भी नहीं सोचेगा तब तक ही साधना में बैठना सार्थक है। वस्तुतः साधना में जब साधक अपनी ओर से कुछ नहीं करता तो उसका अहंकार दबने लगता है। अहंकार के दबते ही शक्ति स्वतंत्रता से कार्य करने लगती है। ध्यान रहे कि उस व्यक्ति को ही शक्ति का कार्य अनुभव होता है जिस व्यक्ति ने शक्ति की अनुभूति कर ली है। नहीं तो थोड़ी देर में ही साधक ऊब जावेगा। उससे बैठा ही नहीं जावेगा। शक्ति की अनुभूति के उपरान्त ही साधना में बैठना चाहिये। तब उसे स्पष्ट शक्ति का कार्य अनुभव होगा और साथ ही उसे अनुभव होगा कि 'वह कुछ नहीं करता' की भावना उसके मस्तिष्क में स्मृति चिह्न निर्माण करेगी। घंटा भर या आधा घंटा ही साधना में बैठना उसे प्रशिक्षण देने लगेगा कि कार्य प्रकृति करती है, वह नहीं। अस्तु कर्म का परिणाम यदि प्रतिकूल निकलता है तो साधक के साधना में पड़े संस्कार उसको विचलित होने से रोकेंगे। वह अपने को कर्म का कर्ता नहीं मानेगा। कर्म का कर्ता बनने से कर्म के अनुकूल या प्रतिकूल दोनों का परिणाम साधना में ठीक रीति से बैठने वाले साधक के मस्तिष्क पर नहीं पड़ेगा। प्रारम्भ में उसे स्पष्ट परिणाम भले ही अनुभव न हो पर कुछ समय बाद निश्चय ही साधक के मस्तिष्क में साधना में बैठने की अवधि के पड़े संस्कार कि 'वह कर्म का कर्ता नहीं है' अवश्य उभरेंगे और कर्तापन से आने वाले सुख-दुःख दोनों पर ही नियंत्रण करने लगेंगे। फलतः प्रतिकूल स्थिति साध ाक के मन को विचलित न कर सकेगी।

वस्तुतः मन की गड़बड़ी से ही प्रायः शरीर अस्वस्थ होता है। फिर वह अनेक व्याधियों से शनैः शनैः घिर जाता है। जब मन को सावधान रहने का अभ्यास होने लगेगा तो, सत्य ही, वह स्वस्थ रहने लगेगा। बीमारियों का शिकार वह नहीं बनने पावेगा। इस प्रकार शक्ति का कार्य अस्वस्थता की जड़ मिटाना है यानी मन को विचलित न होने देना है। यदि पूर्वसंस्कारवश मन विचलित होता है तो शक्ति के माध्यम से कर्तापन से रहित भावना के नवीन अर्जित संस्कार मन की स्थिति को सम्हाल देंगे। इस प्रकार शक्ति मन को स्वस्थ रखकर उसे विचलित होने से बचाती है, यह उसका सहज स्वभाव है। फलतः रोगी साधक को वह निरोगी बनाने में योग देती है। इस तथ्य को प्रत्येक व्यक्ति अनुभव कर सकता है, यदि वह साधना में बैठने की ठीक रीति समझ ले और शक्ति की अनुभूति करके नित्य ही साधना में बैठा करे। जो साधक अनुभूति करके ठीक रीति से साधना में नित्य बैठते हैं वे सब एक स्वर से इस तथ्य की पुष्टि करेंगे, इसमें दो मत न होंगे।

यदि कोई व्यक्ति साधना के महत्व से प्रभावित होकर अपनी शक्ति की अनुभूति सद्गुरु के माध्यम से करके साधना में बैठेगा तो शक्ति सर्व प्रथम साधना की अवधि में उसके शरीर को इस योग्य बनाने का प्रयास करेगी कि शरीर स्वस्थ हो जावे ताकि साधक का मन उचित प्रशिक्षण पा सके। ध्यान रहे कि जो व्यक्ति समस्त स्वार्थों की भावना को त्यागकर शुद्ध भाव से शक्ति के लिये पूर्ण आत्म समर्पण कर देता है वही साधना में बैठने का वास्तविक अधिकारी है। ऐसे साधक के शरीर को स्वस्थ रखने के लिये साधक के रोगादि को शक्ति अपने ढंग से समयानुसार दूर करती है। किन्तु स्वार्थ के वशीभूत होकर कोई व्यक्ति साधना भले ही ले ले किन्तु उसे सफलता नहीं मिलेगी। निराश होकर वह साधना में बैठना बंद कर देगा। हाँ, जिस साधक ने आत्मसमर्पण सच्चाई से किया है उसे विश्वास होता है कि शक्ति अपने सेवक से अपना काम कराने के लिये उसके शरीर को अवश्य ही स्वस्थ बनावेगी कब और कैसे वही जाने। वह तो शुद्ध भाव से नित्य साधना में बैठता है और समस्त कामों को शक्ति के लिये करने में जुटा रहता है। कर्मफल से उसे कोई लगाव ही नहीं रहता।

सत्य ही, स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ विचार उभरते है। यदि साधक का शरीर रोगी है तो शक्ति उन क्रियाओं को उससे शरीर से करवावेगी जिनसे रोग दूर हो जावे। ध्यान रहे प्रत्येक रोग को शक्ति जड़ से मिटाती है। कभी -कभी रोग की जड़े साधक के शरीर में दबी पड़ी रहती है और ऊपर से वह स्वस्थ दिखलाई पड़ता है। किन्तु शक्ति ने

ही तो शरीर रचा है। उसे पूर्ण जानकारी होती है कि शरीर में क्या और कहाँ गड़बड़ी है। अब वह ऐसी क्रियाऐं शरीर से करवाती है कि रोग दबा न रहे, ऊपर उठ आवे। रोग के ऊपर उठते ही साधक पूर्व की अपेक्षा अपने को अधिक अस्वस्थ अनुभव करता है अतएव वह घबराकर साधना में बैठना ही बन्द कर देता है। इसी दृष्टि से साधक को सावधान किया जाता है कि वह अपने सद्गुरु से सम्पर्क बनाये रखे, सत्संग का लाभ उठावे जब कोई विषम स्थिति का अनुभव हो तो गुरुजी से उसका उल्लेख कर दे। वे उसे उचित मार्गदर्शन देंगे। रोग के उभरने पर वे यही कहेंगे कि ''घबराने की कोई बात नहीं है। साधना में बैठने पर यदि कोई रोग उभरे तो निश्चय ही उस रोग का दमन साधना में ही हो जावेगा।'' शक्ति, रोग को उभारकर उसे जड़ से उखाड़ना चाहती है। कभी-कभी कोई साधक उस स्थिति में शक्ति की अनुभूति करता है जबकि उसका शरीर ऊपर से भले ही साधारण स्वस्थ दिखे पर भीतर से खोखला हो गया हो। अनेक रोगों से आक्रान्त हो। तब भी शक्ति भरसक प्रयत्न करती है कि साधक का शरीर काम चलाऊ तो हो जावे। यदि वस्त्र इतना जीर्णशीर्ण हो जावे कि जहाँ से हाथ लगाओ वहीं से फटने लगे तब तो उस वस्त्र का जब तक उपयोग हो सकेगा, किया जावेगा पर बहुत सम्हाल-सम्हाल के, ऐसे ही शक्ति साधक के जीर्णशीर्ण शरीर को बहुत सम्हाल कर बर्तती है। ऐसा शरीर स्वस्थ कैसे हो सकता है ? हाँ जितना अधिक चल सकेगा उसे चलाने का प्रयास होगा। इस दृष्टि से साधक का सर्वोत्तम समय शक्ति की अनुभूति का 16 से 20 वर्ष की अवस्था है। शरीर भी स्वस्थ होता है और बुद्धि भी साधना के मर्म को ठीक-ठीक समझकर ग्रहण कर सकती है। हाँ, शक्ति की अनुभूति करने वाले साधक की मनोवृत्ति सात्विक होना चाहिये।

मुझे 41 वर्ष की आयु में शक्ति की अनुभूति करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उस समय मेरे शरीर की स्थिति साधारण ही थी। न तो हृष्ट-पुष्ट दिखता था न क्षीणकाय। वस्तुतः मेरी युवावस्था संघर्ष में ही बीती थी। तीन काम ही मेरे सामने प्रमुख थे। बालकों को शिक्षा देना, समाज सेवा करना तथा राष्ट्र के रचनात्मक कार्यों में विशेष रूप से भाग लेना। सुधार की वृत्ति ने मुझे दीवाना बना दिया था। बड़ा से बड़ा सुधार एक दिन में ही हो जावे ऐसी मेरी उत्कट भावना थी। देर दिखाई देती थी तो चित्त व्यथित हो जाता था। क्रोध बहुत जल्दी आ जाता था। अहंकार की भावना में 'स्वामी पन' की बहुतायत थी। भजन में ठीक रीति से बैठना तब नहीं आता था। हाँ, इतना अवश्य था कि काम करने की लगन बहुत ही तीव्र थी। दिन को दिन न समझना और

रात को रात न समझना, काम में भिड़े रहना यही धुन थी। एक दो बार तो कर्त्तव्य के वशीभूत होकर प्रातः से संध्या तक काम में लगा रहा। काम पूरा नहीं हुआ। उसे दूसरे दिन प्रातः पूरा होना ही चाहिये था। अतः रात्रि पर्यन्त काम में लगा रहा। रात्रि समाप्त हो गई और काम पर खड़े -खड़े ही प्रभात हो गया। सूर्य भगवान् की किरणें सर्वत्र नियमपूर्वक फैलने लगी। येनकेनप्रकारेण काम तो पूरा हो गया पर शरीर बहुत थक गया था। विश्राम चाहता था, पर युवक की उमंगों में विश्राम कहाँ ? किन्तु प्रकृति इस प्रकार शरीर की अवहेलना को सहन नहीं करती। वह तो दंड देती ही है। फलतः अनियमितताओं से शरीर थक जाने पर जैसा चाहिये वैसा मैं अब काम नहीं कर पाता था। अनुभूति के समय मेरे काम सीमित हो गये थे। विद्यालय के बालकों को पढ़ा देना तथा थोड़ी बहुत विद्यालय की व्यवस्था में योग दे देना, विशेषकर यही काम था। साधना में नित्य ही प्रातः सायं 4-5 घंटे बैठा करता था। साधना के उपरान्त छात्रो को पढ़ाने में अथवा विद्यालय की व्यवस्था देखने में जहाँ कमी अनुभव होती थी कि मुझे तुरन्त ही क्रोध आ जाता था। मेरे क्रोध के कारण प्रायः मुझसे सम्बंधित व्यक्ति खुलकर नहीं मिलते थे। उन्हे भय लगता था। ज्यों-ज्यों मैं क्रोध को दबाता था त्यों त्यों ही वह उग्र रूप धारण कर लेता। क्रोध की अति से मेरे मस्तिष्क में प्रायः बहुत ही पीड़ा अनुभव होती थी, चक्कर आने लगते थे। हाँ, साधना में अवश्य शांति अनुभव होती थी। किन्तु ऐसा भी अनुभव होता था कि शक्ति अब कोई ऐसी लीला करायेगी जिससे मेरे क्रोधादि के संस्कारों में अवश्य परिवर्तन आवेगा। अन्ततोगत्वा वह घड़ी आ ही गई। और आई बड़े विचित्र ढंग से।

एक दिन प्रातः 4 बजे मैं नित्य की भांति उठा। उठकर पास में रखे तांबे के घड़े से जल लेने गया। किन्तु, मुझमें एकदम इतनी अशक्तता आई कि मैं घड़ा झुकाकर गिलास में जल न ले सका। समस्त शरीर में कांटे से छिद रहे है, ऐसा अनुभव होता था। विद्यालय के छात्र भी 4 बजे प्रार्थना करते थे। श्री भारत सुमन जी प्रार्थना करवा कर मुझसे मिलने आये। वे ग्वालियर जाना चाहते थे। मैने अपनी स्थिति उन्हें बतालाई। मैं बुरी तरह से घबराया हुआ कुटिया में टहल रहा था। वे तुरन्त ही श्री डाक्टर मेहता को लेकर आ गये। श्री नागर जी भी थोड़ी देर में आ गये। श्री डाक्टर साहब ने मुझे एनीमा लगाया किन्तु मुझ पर उसका किंचित भी प्रभाव नहीं हुआ। फिर दूसरा एनीमा लगाया किन्तु वह भी निष्फल गया। सम्भव है, उन्होने इन्जैक्शन भी लगाये थे पर मेरी स्थिति बिगड़ती ही गई। बेचारे डाक्टर साहब बहुत ही व्याकुल हो रहे थे। कुछ और श्रद्धालु

सज्जन भी एकत्रित हो गये। शाम के 3-4 बजे तक डाक्टर साहब ने अपनी समझ से जो कुछ हो सकता था, सब कुछ किया। पर एक उपाय सफल न होता था। सरकारी डाक्टर महोदय भी सहायतार्थ कुटिया पर आ गये। सबको ऐसा लगता कि महात्माजी का अन्त समय आ गया है। कुछ भक्त तो यही कहने लगे कि महात्मा जी की साधना की क्रियाओ में कुछ भूल हो गई है। इसे साधु सन्त ही समझ पावेंगे। पर अपेक्षित साधुसन्त वहाँ थे कहाँ ? हितचिन्तक डाक्टरो ने डॉ. मेहता साहब को यह सलाह दी कि "महात्माजी को अस्पताल ले चले। यहाँ आवश्यक समस्त उपकरण अस्पताल से आ नहीं सकते" मेरी आदरणीय माँ मेरे सर को गोद में लिये बैठी थी। मेरे गले में कफ गरगरा रहा था। जीवन की आशा बहुत कम रह गई थी। मुझे डाक्टर साहब ने अस्पताल ले जाने की सम्मति माँगी। मेरी स्थिति ऐसी थी कि यदि कोई मुझे स्पर्श करता तो वदन में शूल से छिदते। वैसे मुझे चैतन्यता थी। धीमे स्वर में मैने अस्पताल ले चलने की अनुमति दे दी। केवल यही कहा कि 'कुटिया की अपेक्षा अस्पताल से श्मशान भूमि निकट ही होगी।' आँख खुलती नहीं थी। मुझे केवल इतना होश था कि मुझे अस्पताल ले जाया जा रहा है। उन्होने क्या योजना बनाई है इसका मुझे बिल्कुल बोध नहीं था। एक गाड़ी में मुझे रखकर ले जाया जा रहा है। सम्भवतः मेरा सिर श्री नागर जी की गोद में था और मेरे पैर श्री भारत सुमन जी सम्हाले हुए थे।

गाड़ी तुरन्त अस्पताल आ गई। वहाँ कोई नये रोगी को रखने के लिये कमरा खाली नहीं था। श्री डाक्टर महोदय ने तुरन्त आपरेशन थियेटर में ही मेरे लिये पलंग लगवा दिया और मेरा उपचार आरम्भ किया। उस समय की मुझे याद नही। जो कुछ मैने सुना था उसका ही मैं यहाँ उल्लेख कर रहा हू। डाक्टर सा. को 'रोग क्या है ' यह समझ में नहीं आ रहा था। जिसको जो समझ में आता था वह करता था। इधर बहुत शीघ्र ही शहर भर में मेरी मरणासन्न स्थिति की बात फैल गई। सब ओर से लोग आ रहे थे। डाक्टर सा. के मना करने पर भी लोग दर्शन के लिये उत्सुक हो रहे थे। बड़ी कठिनाई से नम्र निवेदन कर लोगों की भीड़ पर नियंत्रण किया गया। जगह-जगह मेरे जीवन के लिये प्रार्थनाऐं होने लगी। गरीबों को भोजन, वस्त्र दिये जा रहे थे। कुत्तों आदि को जलेबी, मंगौड़े आदि श्रद्धालु लोग खिला रहे थे। मन्दिरों में लोग भगवान से प्रार्थना कर रहे थे। इधर श्री डा. वारन साहब एक मोटी पुस्तक को सावधानी से पढ़ रहे थे। पढ़ते पढ़ते उन्हे एक स्थान पर फुटनोट में एक रोग का जिसे 'बारबरिक पैरेलिसस' सम्भवतः कहते है का उल्लेख मिला। उसे पढ़कर डाक्टर महोदय के चेहरे पर मुस्कराहट

आ गई। उन्हें स्मरण हो आया कि लगभग तेरह वर्ष पूर्व उन्होने इसी रोग से पीड़ित एक व्यक्ति का निदान किया था। उन्होने तत्काल मुझे आपरेशन टेबल पर ओंधा लिटाने के आदेश दिये। जब मैं औंधा लिटा दिया गया तो उन्होने रीड की हड्डी में से कुछ फ्लूड निकाल लिया और औषधि आदि लगा दी। मुझे पलंग पर शान्त लेटे रहने का आदेश देकर वे जाते समय मित्रों से कहने लगे कि ''यह अन्तिम उपचार है। यदि प्रातः 4 बजे तक महात्मा जी की स्थिति में सुधार के चिह्न दिख जावेंगे तब तो स्थिति सम्हल जावेगी, अन्यथा प्रभु इच्छा।''

डाक्टर महोदय अपने अपने स्थान को चले गये। मेरी सावधानी से देख रेख रखने का स्टाफ को आदेश दे गये। अब भीड़ कम हो गई। मेरे समीप मेरी माताजी, बड़ी बहिनजी, श्री केलकर, श्री बाबूलालजी तथा श्री प्रेमनारायण भट्ट आदि थे। मैं चित्त लेटा हुआ था। ऐसा लग रहा था मानों मैं नशे में चूर हू। अन्त समय की कल्पनानुसार स्वप्न आ रहा था। विचित्र-विचित्र मुकुट पहिने हुए देवताओं की मूर्तियां मेरे चारों ओर मुझे दिख रही थी। श्री नत्थीलाल जी की धर्मपत्नी श्रीमती राधाबाई भी वहीं पास वाले वार्ड में थी। श्रीमती राधाबाई लगभग रात्रि के 12 बजे मुझे देखने आई और मेरे कानों की लौ को छूकर गम्भीर श्वास लेकर बोली कि ''हे भगवान् लौ तो बिल्कुल ठन्डी हो गई, अभी 12 बजे है।'' माताजी आदि भी चिन्तित हो गई। संयोग से श्रीमती राधाबाई के शब्दो की ध्वनि मेरे कानों तक पहुँच गई। तब मैंने अनुमान किया कि अब मेरा शरीर छूट रहा है। किन्तु अभी रात्रि के 12 ही बजे है। अतः मैने मन ही मन भगवती से संक्षेप में प्रार्थना की कि 'हे भगवती, यदि अब शरीर छूटता है तो परिवार आदि के लोगो को रात्रि भर कष्ट रहेगा। यदि आप कृपा करें तो शरीर प्रातः 4 बजे छूट जावे' शरीर भले ही छूट जावे, उसे तो छूटना ही है, किन्तु लोग कष्ट न पावें, यही भावना व्यक्त हुई। इस क्षण ही मुझे अनुभव हुआ कि अब देहावसान हो रहा है। ये भाव मन में आते ही मेरे मुख से 'करवट' शब्द निकला। श्री बाबूलालजी ने मुझे करवट दिला दी। अभी तक मैं चित्त ही लेटा हुआ था और मुझे मेरी स्थिति की कुछ भी सुध न थी। फिर करवट दिलाने के बाद मुझे कुछ पता नहीं कि क्या हुआ।

लगभग प्रातः 4 बजे डाक्टर महोदय आये और उन्होने मेरी नाड़ी देखी। वे हर्ष से बोले, महात्माजी, आप बिल्कुल ठीक है। मेरी स्थिति इस समय ऐसी हो गई थी कि लगभग मेरा सभी रक्त पानी में परिणत हो गया था। शरीर के सब अंग शिथिल पड़ गये थे। डाक्टर महोदय के जाने के बाद लगभग 5 बजे मुझे अस्पताल के पलंग पर ही वेग

आने लगा और शरीर से विभिन्न क्रियायें होने लगी। श्री केलकर साहब तथा श्री बाबूलालजी इससे परिचित थे कि मुझे साधना में क्रियाऐं होती थीं। उन्हे यह देखकर महान आश्चर्य हुआ कि पूर्णशिथिल पड़ा हुआ शरीर पलंग पर कैसे हलासन, चक्रासन, पश्चिमोत्तान आसन आदि कर रहा है। थोड़ी देर में ही प्रभात हो गया। सर्वत्र प्रकाश फैल गया था। मैं धीरे धीरे बोल सकता था। लोगो का मत था कि अब मेरा शरीर पूर्ण स्वस्थ न हो सकेगा। किसी न किसी अंग में गड़बड़ी बनी रह सकती है। मैंने पानी माँगा। श्री बाबूलालजी ने पानी का गिलास या कप मेरे मुख से लगाया तो मेरा मुख पूरी तौर से खुलता न था। थोड़ा सा खुला। तब उन्होंने कहा, 'महाराज आपका मुख तो खुलता नहीं' मैंने कहा, "आप अपने मुख में अंगुली डालकर दिखाओ कि मुख खुलने पर कितनी अंगुलिया मुख में जाती है।" उन्होने मुख खोला और अंगुलियाँ डालकर बताया तो लगभग तीन चार अंगुलियाँ जाती थी। मुझे प्रेरणा हुई। मैं पानी मुख में भरता था कुलकुला कर थूक देता था। फिर अंगुलियाँ डालकर देखता तो पहले केवल एक अंगुली ही मुख में जा सकी। पानी के कुल्ले बार बार करने से मुख अधिक खुलने लगा। क्रम-क्रम से दो अंगुल, ढाई अंगुल, फिर तीन अंगुल मुख खुलने लगा। इस प्रकार मुख खुलने की स्थिति ठीक हो गई। लगभग 15 दिन में अस्पताल में रहा, फिर विद्यालय पर आ गया। पूर्ण स्वस्थ होने में लगभग 3-4 माह लग गये होंगे।

यद्यपि में थोड़ा चल फिर लेता था। भोजन कर लेता था। मलमूत्र भी साधारणतया ठीक-ठीक विसर्जन हो जाता था। किन्तु मेरी स्मृति बहुत कम हो गई थी। बड़ी देर में उन व्यक्तियों को पहिचान पाता था जो थे तो अत्यन्त परिचित किन्तु जिनका दैनिक ही मिलना-जुलना नहीं होता था। जब मैंने हिसाब की किताब देखी तो मुझे कुछ याद ही न आता था। शून्य स्थिति हो गई थी। एक बार एक छात्र द्वारा सामने के किवाड़ एकदम खोल दिये गये। मैं पसीने में तरबतर था। पसीने में हवा लग जाने से कमर आदि में दर्द खड़ा हो गया। मेरी क्रोध की मात्रा बढ़ गई थी। दर्द सहन नहीं होता था। साधना तथा प्राकृतिक चिकित्सा के सहारे में लगभग दो माह में ठीक हो गया। मेरे शरीर का कोई भी अंग विकृत नहीं हुआ। हाँ, विद्यालय की व्यवस्था देखने में भी मैं अपने को असमर्थ अनुभव करने लगा था। सहनशीलता आने लगी थी। क्रोध विवेक से दबने लगा था। क्रोध आता तो था पर तुरन्त ही विवेक से मैं सम्हल जाता था। हाँ, साधना अब पूर्ववत होने लगी थी।

मुझे साधना से स्पष्ट अनुभव होने लगा था कि प्रकृति ने मेरी स्थिति एकाएक

गड़बड़ में इसलिए की थी कि जब तक मेरे शरीर की मृत्यु जैसी घटना नहीं घटेगी तब तक क्रोधादि विकारों के तथा 'मैं पन' के संस्कारो की प्रबलता कम न होगी। मुझे ऐसा लगा कि मेरा वस्तुतः अब जन्म हुआ है। अब नये संस्कार अच्छी तरह से जम सकेंगे और तत्सम उनका आचरण हो सकेगा। शनैः शनैः मेरी रुचि विद्यालय के समस्त कार्यो से हट गई। विद्यालय के छात्रों के स्थान पर साधकों से अधिक सम्बंध होने लगा। साधकों के निकट सम्पर्क हो जाने से मैं अपना आदर्श रखने को विवश हो गया कि उनके सामने क्रोधादि विकारों को प्रतिकूल स्थिति आने पर कैसे दबा सकूँ। ऐसा प्रतीत होता है शक्ति क्रोधादि विकारों को पहले उभारती है और फिर उन्हें मर्यादा में ला देती है। मेरी घटना से मुझे यह तथ्य स्पष्ट समझ में आ गया कि साधक का शरणागत रहना पर्याप्त है। शक्ति स्वतः ही वैसी परिस्थिति उत्पन्न कर देती है जिससे साधक के अवांछनीय जमे हुए संस्कार सहज ही निर्बल होने लगते है और नवीन स्वास्थ्यप्रद संस्कार निर्मित होने लगते है, तथा वे शनैः-शनैः पुष्ट होने लगते है। सचमुच, शक्ति ऐसी स्थिति स्वतः ही उत्पन्न कर देती है, जिसमें साधक का सीधा उत्तरदायित्व भी सीमित हो जाता है जिससे अन्य साधको के हितार्थ उसके जीवन का पूर्ण उपयोग होने लगे।

विवेचन से स्पष्ट है कि 'चिकित्सकों की सर्वोत्तम सहायक' के रूप में प्राणशक्ति यानी कुंडलिनी शक्ति हमारे अन्दर विद्यमान है। यदि हम उसकी शरण में रहते हैं तो हमारे समस्त रोगादि वैसे तो उसकी सहायता से बहुत ही कुछ दूर हो सकते है और आवश्यकता पड़ने पर चिकित्सकों की सहायता लेने में भी वह सर्वाधिक सहायता दे सकती है। अतः यह निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि अपनी शक्ति के सहयोग से हम स्वस्थ रहकर सुन्दर स्वस्थ जीवत व्यतीत कर सकते हैं तथा समुचित रीति से कर्त्तव्यपालन कर सकते हैं।

अनुभूतियाँ

अपनी शक्ति की अनुभूति कर जब साधक साधना में बैठता है तब उसके शरीर से स्वतः ही भिन्न भिन्न प्रकार की क्रियायें होती है। इन क्रियाओं को करते हुये प्रायः साधक की बुद्धि में यह भी आता रहता है कि उसकी शारीरिक क्रियाओं के माध्यम से शक्ति उसके विकारों को दूर कर रही है। साधना में बैठने वाला साधक जब निमित्त बनकर कर्म करता है तब उस निमित्त बने हुए सेवक के सामने यदि कोई विशेष अड़चन आ जावे तो सेवक के बिना पूछे हीं साधना में बैठने पर साधक को मार्गदर्शन मिल जाया करता है जब साधक उस मार्गदर्शन के अनुसार चलता है तो निस्संदेह उसकी अड़चन दूर हो जाया करती है। उसे परम संतोष अनुभव होता है अतः साधक पूर्ण विश्वास से शक्ति से लिये कर्म करता रहे, उसे मार्गदर्शन स्वयं मिलेगा।

एक समय का मुझे स्मरण है कि जबकि मेरी स्थिति किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गई थी किन्तु साधना में मुझे स्पष्ट मार्गदर्शन मिला और मुझे कर्मपथ स्पष्ट दिखने लगा। श्री 1008 पूज्य स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज मेरी वाली कुटिया में निवास करते थे। उनके निवास की अवधि में 15 अगस्त का स्वराज्य दिवस आया। श्री स्वामी जी महाराज के कर कमलों से स्वराज्य का ध्वज फहराने का हमें सौभाग्य प्राप्त हुआ था। थोड़े दिनों बाद ही आसपास के क्षेत्र में संयोग से कुछ उत्पाती लोगों ने लूट खसोट आरम्भ कर दी। हमारा विद्यालय शहर से लगभग 1 मील दूर स्थित है। उन दिनों शहर से विद्यालय तक सुनसान सा रहता था। जंगल ही जंगल था। कभी-कभी इधर उधर से शेर भी आ जाया करता था। रोशनी का अभाव था। प्रायः मार्ग में अंधकार ही अधिक रहता था। विद्यालय के छात्रावास में उस समय लगभग 20-20 छात्र अहर्निश जीवन व्यतीत करते थे। एक दिन शहर के कुछ लोग श्री स्वामीजी महाराज से मिलने कुटिया पर आये थे। आतंकवादी लोगों की चर्चा शहर में फैल ही रही थी। श्री स्वामी जी के सामने भी उत्पाती लोगों की चर्चा हुई और कहा गया कि बाजार में एक व्यक्ति को सड़क पर ही लूट लिया और उसकी जीवनलीला समाप्त कर दी। श्री स्वामीजी के स्वभाव में दयालुता कूट-कूट कर भरी हुई थी। लोगों की चर्चा से श्री स्वामी जी दुखी हो गये थे। फिर उनको विचार आया कि विद्यालय में छात्र रहते हैं और यह स्थान निर्जन सा है किसी समय भी कोई आपत्तिजनक घटना घट सकती है। अतः उन्होने मुझे बुलवाया। मैं स्वामीजी के पास पहुँचा तो स्वामीजी ने मुझे बड़े प्रेम से कहा कि ''भैया, यहाँ छात्र रहते

है, इनका उत्तरदायित्व तुम पर है। यदि कोई अवांछनीय घटना घट गई तो अच्छा नहीं रहेगा। अतः जब तक यह संकटकाल रहे तब तक के लिये छात्रों को उनके घर भेज दो और पढ़ाने आदि का प्रबंध शहर में किसी सुरक्षित स्थान पर कर लिया जावे तो ठीक रहेगा।''

श्री स्वामीजी का उपदेश व्यावहारिक था पर मुझे उसके अनुसार बर्तने में बड़ा धर्मसंकट उपस्थित हो गया था हम बच्चों में वीरता की बाते भरते थे। हिम्मत से बच्चे जंगल में रह रहे थे। यदि हम इस परीक्षाकाल में अपने स्थान को छोड़कर जाते है तो लोग भले ही हमारे काम को ठीक समझें पर अन्तःकरण में स्पष्ट अनुभव होता कि ''हम कायर हैं''। ''हमें अपनी रक्षा स्वयं करना चाहिये'' श्री स्वामीजी से तो मैं केवल इतना कहकर चला गया था कि मैं विचार करके आपसे निवेदन कर दूँगा। श्री स्वामीजी के वचनों का मान बना रहे और हमें विद्यालय छोड़कर अन्य सुरक्षित स्थान पर जाना भी न पड़े इसी उलझन में बहुत देर तक मैं व्यस्त रहा। संध्या को साधना में नित्य की भाँति ही बैठ गया। शक्ति से समस्या का हल कैसे हो पूछने का किंचित भी विचार नहीं आया। यही विश्वास होता था कि उचित मार्गदर्शन यथासमय स्वतः ही सूझने लगेगा। किन्तु मुझे महान आश्चर्य हुआ कि साधना में से उठते -उठते ही मैं पुनः बैठ गया मानो किसी ने मुझे फालतू बैठा दिया हो। और भूमि पर हाथ की अंगुलियो से आतंकवादी लोग लिखा गया और फिर जल्दी जल्दी उस लिखे शब्द पर थप्पड़ें ही थप्पड़ें लगीं। और फिर जल्दी जल्दी गया और ऐसा अनुभव हुआ कि मैं एक हाथ में शान्त भगवती का चित्र लिये हूँ और वह प्रसन्न मुद्रा से धैर्य दिला रही है। फिर भगवती के सिंहासन पर चँवर घुमाया जा रहा है ऐसा दिखा। अन्त में शंख की ध्वनि सी अनुभव हुई।

इस दृश्य ने मुझमें आत्मविश्वास उत्पन्न कर दिया कि विद्यालय के क्षेत्र में कोई उत्पात न होगा। हमारी रक्षा होती रहेगी। यदि हानि होगी तो उत्पातियों की ही होगी। इस विचार ने मुझे संतोष दिया और फिर शीघ्रता से एक युक्ति समझ में आ गई कि श्री स्वामीजी की महाराज को ऐसा कह दें कि 'महाराज, रणजीतसिंह छात्र अच्छा निशाना लगाता है और उसके घर उसकी बढ़िया बन्दूक है। वह घर से बन्दूक ले आवेगा। रात्रि में छात्रों के पहरे लगा देंगे। सब लोग सावधान रहेंगे। श्री स्वामीजी महाराज अत्यन्त ही भोले स्वभाव के थे। जैसे ही मैंने अपनी युक्ति उन्हे सुनाई से प्रसन्न हो गये और उन्होने कहा 'कुछ प्रबन्ध होना तो अवश्य चाहिये ऐसा ही कर लो' मुझे सन्देह था कि कहीं स्वामीजी यह न कह दें कि ''30-40 आदमियों का गिरोह चला आया तों ये छात्र क्या

करेंगे, बन्दूक छीनकर उलटा उसका उपयोग छात्रों पर ही करेंगे।'' किन्तु उन्होने विशेष कुछ नहीं कहा। दूसरे दिन रणजीतसिंह घर से बन्दूक ले आये। छात्रों के पहरे बाँध दिये गये। हमारी आत्मनिर्भरता की भावना बहुत ही अच्छी लगी। इस प्रकार साधना में मेरे बिना पूछे ही मेरी किंकर्तव्यविमूढ़ स्थिति दूर हो गई। सुन्दर, आकर्षक मार्ग सूझ आया। मानवोचित कर्तव्यपालन का सहज ही पाठ पढ़ लिया। यह अनुभूति है। ऐसी ही अनुभूतियाँ साधकों को प्रायः साधना में होती रहती है जिनसे साधना में उत्तरोत्तर प्रगति होती रहती है। साधक को विवेक आता जाता है। दैनिक जीवन में आने वाली विषम परिस्थितियों को हँसते-हँसते साधक सह लेने का अभ्यासी होने लगता है और उनके निराकरण के उपाय सहज ही उसकी बुद्धि में आने लगते है।

साधना में नियमित बैठकर अभ्यास करने वाले साधकों को शारीरिक अथवा मानसिक लाभ होते रहते हैं। पाठकों के लाभार्थ अब कुछ साधकों के स्वयं के अनुभव भी उद्घृत किये जा रहे है। आशा है कि साधक वृन्द परस्पर के अनुभवों से परिचित होकर अनुप्राणित होंगे तथा साधना की प्रगति में उनसे बल प्राप्त करेंगे। ध्यान रहे कि साधक प्रत्यक्ष में लोगों के सामने बैठकर अपनी क्रियाओं आदि का प्रदर्शन नहीं करता। प्रदर्शन करने से दबा हुआ अहंकार उभरने लगता है और सेवकभाव, स्वामीभाव में परिणत होने लगता है। किन्तु साधना में बैठने से लोगों के शारीरिक रोगादि सहज ही दूर हो जाते है। इस रहस्य से अवगत होने पर साधकों के आत्मविश्वास में दृढ़ता अवश्य आती है और वे स्वयं ही शरीर को बहुत कुछ निरोग रख सकने में समर्थ हो जाते हैं। अतः साधकों के अनुभवों से भी परिचित होना आवश्यक जान पड़ता है। अस्तु, कुछ साधकों से प्राप्त उनके अनुभव भी आगे के अध्याय में दिये जा रहे हैं।

साधकों से प्राप्त उनके अनुभव

श्री मदनलाल जी गुप्ता, एडवोकेट, शिवपुरी से लिखते है कि लगभग 10 वर्ष पूर्व मैं अत्यधिक मानसिक सन्ताप से वायु प्रकोप (Gastric trouble) बीमारी से पीड़ित हो गया था। सौभाग्य से माँ भगवती की शरण में जाने का योग मिला और मैं साधना में बैठने लगा। एक दिन साधना में मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि मेरा पेट और पीठ एक हो गये हों। उसी समय मलमूत्र त्याग की तीव्र इच्छा हुई। मलमूत्र विसर्जन के बाद बीमारी कम होती गई। साधना में नित्य बैठने से बीमारी पूरी तरह दूर हो गई।

इसके बाद मैं अब तक अनुभव कर रहा हूँ कि मेरे शरीर में हाथ, पैर आदि में कोई विकृति आती है या दर्द होता है तो साधना में उसी अंग में उसे ठीक करने की क्रिया स्वतः ही होती है। साधना से उठने पर शरीर अत्यंत हल्का हो जाता है। दर्द अनुभव नहीं होता। शरीर स्वस्थ हो जाता है।

साधना की मुद्रा में रहने से, कठिनाई से पूर्ण होने वाले दैनिक कर्म भी सुगमता से पूर्ण हो जाते है। मैंने अपने वकालत सम्बंधी कर्मक्षेत्र में कई प्रकरणों के निराकरण एवं पारिवारिक गुत्थियों के सुलझाने में कई बार इसका अनुभव किया है।

श्री मुरारीलाल जी सक्सेना, एम. ए., बी. टी. खोह, सबलगढ़ से लिखते है कि - साधना में बैठने के उपरान्त मुझे प्रत्यक्ष अनुभूतियाँ हुई है। वे इस प्रकार है -

1. साधना में बैठते ही मेरे चित्त को पूर्ण शान्ति मिल जाती है।

2. मैं अपनी रक्षा के हेतु बन्दूक रखा करता था। किन्तु अब मेरा भय समाप्त हो गया है। अब मुझे बन्दूक रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

3. साधना में बैठने के बाद शरीर का भारीपन दूर हो जाता है। शरीर हल्का हो जाता है।

4. साधना में बैठने के पूर्व मेरी पाचनक्रिया में गड़बड़ी थी। साधना में नियमित बैठने से वह दूर हो गई।

5. साधना में बैठना ही शरीर की प्राकृतिक चिकित्सा है। यह तथ्य अक्षरशः सत्य है। मैं अपना एक उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ। आज से लगभग एक वर्ष पूर्व मेरे घुटने पर एक बालतोड़ हो गया था। उठने-बैठने, चलने-फिरने, में मुझे बहुत कष्ट होता था। एक दिन गुरुदेव से मिलने की विशेष इच्छा हुई। मुझे मेरा भतीजा साईकिल पर बैठाकर आश्रम पर ले गया। मै। बड़ी कठिनाई से झुककर प्रणाम कर सका। गुरुजी ने मुझसे पूछा, आप साधना में बैठते हैं या नहीं। मैंने उत्तर दिया, ''महाराज जी, मुझसे उठा-बैठा नहीं जाता।'' गुरुजी ने कहा कि ''साधना में क्या कोई विशेष ढंग से बैठना होता है ? चाहे जैसे बैठ जाइये। स्मरण कीजिये साधना स्वतः होने लगेगी।'' मैंने कहा 'तो मैं अब बैठ जाऊँ' गुरुजी ने कहा, 'हाँ'। और मैं साधनाकक्ष में बैठ गया। साधना में बैठते ही आँख लग गई। लगभग 40 मिनट बाद मेरी आँख खुली तो मुझे अपनी तकलीफ जरा भी महसूस नहीं हुई। मैंने आकर गुरु महाराज को अच्छी प्रकार झुककर प्रणाम किया।

उन्होने पूछा, ''क्यों अब दर्द कैसा है ?'' मैंने कहा ''मुझे तो अब दर्द मालूम ही नहीं होता'' कुछ सज्जन महाराज जी के पास बैठे हुए थे। उन्होने भी साधना के अद्‌भुत रहस्य पर आश्चर्य प्रकट किया। अन्त में मैं दृढ़ विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि कोई भी व्यक्ति सच्ची लगन से विश्वास के साथ साधना में नियमित रूप से बैठे तो उसका कैसा भी असाध्य रोग क्यों न हो वह जड़ से समाप्त हो सकता है।

श्री श्यामसिंह जी गुप्ता, एम. ए. एल. टी., सहायक जिला निरीक्षक क्षेत्र रन्नौद, जिला शिवपुरी से लिखते है कि-

बचपन से अभी तक अनेक संतों के समागम का लाभ मुझे मिला परन्तु जो अद्वितीय प्रतिभा तथा शक्तिसम्पन्नता परम आदरणीय महाराज, भारतीय विद्यालय, शिवपुरी में देखने को मिली, वह अन्यत्र नही। भौतिक जीवन और आध्यात्मिकता के सामंजस्य का अनूठा रूप परम आदरणीय महाराज जी की ज्ञान गंगा में डुबकी लगाने के पश्चात् ही हृदयंगम हो सका।

पुस्तकीय ज्ञान तो अनेक संतों से मिला परन्तु अनुभव परम आदरणीय एवं श्रद्धेय गुरुजी की ही चरणरज की कृपा से तथा साधना में बैठने से ही हो सका। वैसे तो साधना में मुझे अनेकों बार अनुभव हुए हैं। माँ भगवती, कुंडलिनी शक्ति के रूप में, अन्दर विराजमान है। वह प्रतिक्षण कुछ न कुछ अनुभव कराती रहती है। परन्तु इसका विशेष अनुभव मुझे एक दिन साधना में बैठे-बैठे ही हुआ। मैं क्या अनुभव करता हूँ ? यही कि इस पार्थिव शरीर से बहुत ऊपर मैं चक्कर काट रहा हूँ। मुझे भय भी लगा। परन्तु जब साधना से उठा तो शरीर एकदम फूल सा हल्का हो गया था। मैंने अपने को पूर्णशान्त स्थिति में पाया। इस प्रकार माँ शक्ति ने मुझे प्रशिक्षण दे दिया कि साधक पार्थिव शरीर नहीं, वह उससें पृथक् है। यह तथ्य मेरे जीवन में भली प्रकार उतर गया।

जीवन की विषम परिस्थियों में यह प्रशिक्षण मुझे सान्त्वना देने का स्त्रोत हो गया है। इस मार्गदर्शन के सहारे ही मुझे कभी दीनता का अनुभव नहीं होता। क्योंकि, मुझे सदैव भान रहता है कि मैं इस पार्थिव शरीर से भिन्न हूँ।

श्री विपिनबिहारी शर्मा, जनरल पोस्ट ऑफिस, लश्कर, ग्वालियर से लिखते है कि -

साधना में बैठने से मुझे दो रहस्य स्पष्ट हो गये। एक तो यह कि भगवती माँ,

साधक को रोचक ढंग से समझा देती है कि जैसे दर्पण में दिखने वाला शरीर साधक स्वयं नहीं है, वह तो केवल उसके शरीर का प्रतिबिम्ब मात्र है ऐसे ही शरीर को स्वयं कहना भ्रम मात्र है। दूसरा यह है कि माँ साधक की बुद्धि को निखार देती है और उसे यह क्षमता प्रदान करती है कि आँखो की सहायता के बिना वह दृश्य देख सकती है, सही जानकारी दे सकती है। घटना इस प्रकार है कि शरदपूर्णिमा का दिन था। मैं कार्यालय से करीब साढ़े नौ बजे रात्रि को घर पहुँचा। नित्यकर्म से निवृत होकर मैं ऊपर तिमंजली छत पर गया। शीतल, मन्द समीर वह रही थी। प्राकृतिक दृश्य भी अत्यन्त मनोरम था। पाँच मिनिट तक प्रकृति के मनोरम दृश्य को देखकर हृदय प्रकृति के प्रेम में गदगद् हो गया। मैने अपना आसन बिछाया और साधना के लिये बैठ गया। बैठते ही मैंने अपने आपको माँ की शरण में पाया और मैं केवल दृष्टावत् शुद्धसच्चिदानन्द आत्मस्वरूप में स्थित अपने को अनुभव करने लगा। कुछ क्षणों में ही मुझे एक हल्का बिजली का ध ाक्का सा लगा। ऐसा अनुभव होने लगा मानो मेरा यह भौतिक शरीर शनैः-शनैः छोटा होता जा रहा है और एक अथाह गहराई की विशालतम नीचाई में जा रहा है जो आधार रहित है। कुछ समय बाद मैंने अपने आपको अपने आसन से दो तीन फीट दूर ऐसा बैठा देखा जैसे दर्पण में कोई अपने आपको बैठा देखे। कुछ समय अचेतन अवस्था में रहने के पश्चात् मुझे कुछ चैतन्यता आई। सर्व प्रथम यही विचार आया कि पता नहीं इस समय कितने बजे होंगे। धर्मपत्नी नीचे भोजन के लिये राह देख रही होगी। मेरी आँखे खुली नहीं थी। अर्द्धचैतन्यअवस्था में मैं था। तत्काल ही मैंने शून्य में एक बहुत सुन्दर अत्यन्त पतली बनावट की घड़ी देखी जिसके चारो ओर की किनारी चमकती हुई सफेद निकिल की थी। करीब छै इन्च के व्यास की थी। मैंने साफ पढ़ लिया कि 10 बजकर 35 मिनिट हुए है शनैः-शनैः आँखे खुल गई। मैनें नतमस्तक होकर माँ को प्रणाम किया। उठते ही मेरी दृष्टि हाथ में बँधी कलाई की घड़ी पर गई। शरदपूर्णिमा की चाँदनी में घड़ी के अंक साफ चमक रहे थे। घड़ी में 10 बजकर 37 मिनिट थे। हो सकता है कि माँ की प्राकृतिक घड़ी को देखकर मेरी घड़ी में देखने में मुझे दो मिनिट का समय लग गया हो। इसी से इतना समयान्तर हुआ। जब माँ की गोद से मैं उठकर नीचे आने लगा तो ऐसा मुझे अनुभव हुआ कि मैंने कोई तेज मादक द्रव्य सेवन कर रखा हो। मस्ती में झूम रहा था।

आगे चलकर एक बात मुझे और भी साधना में अनुभव हुई कि माँ भगवती साध ाक को परेशानी में नही देख सकती। यदि विस्मृत हुई बात याद नहीं आती और साधक

बहुत व्यथित हो रहा है तो उसके विस्मृत हुए संस्कारों को उभार कर साधक को याद दिला देती है। घटना इस प्रकार है कि 4 अक्टूबर 1972 को कार्यालय से साढ़े नौ बजे रात्रि को घर पहुँचा। धर्मपत्नी ने अपना हायर सेकेण्डरी का फार्म भरने का अनुरोध किया। 5 अक्टूबर को यानी दूसरे दिन ही विलम्ब शुल्क के साथ फार्म दाखिला करने की अंतिम तिथि थी। पहले तो मैंने इस दृष्टि से कि फार्म की सभी बाते इतनी जल्दी पूर्ण नहीं हो सकती अतः मना किया। किन्तु पू. पिताजी के विशेष आग्रह से मुझे हाँ कहना पड़ा। सोचा कि कल आधे दिन का आकस्मिक अवकाश लेकर फार्म भरने की समस्त बातें पूर्ण कर दी जावेगी। फार्म भरने के लिये सबसे आवश्यक वस्तु थी हाईस्कूल की मार्कशीट। मैने धर्मपत्नी से मार्कशीट मांगी। उन्होने कहा कि 'मार्कशीट आपने मेरे हाथ में दी ही नहीं थी। आपने ही कहीं रख दी होगी।' मैने मार्कशीट ढूँढना प्रारम्भ कर दिया। अपनी अलमारी देखी सारी पुस्तकें देखी, अटैची देखी। मैं ढूढँते-ढूढँते थक गया पर मार्कशीट नहीं मिली। चित्त की परेशानी बढ़ती गई पर ढूढँना बन्द नहीं हुआ। रात्रि के बारह बज चुके थे। धर्मपत्नी ने कहा, 'आप परेशान न होइये। पहले आप नित्य कर्म से निवृत होकर भोजन कर लीजियेगा फिर ढूँढ़ियेगा अथवा प्रातः ढूँढियेगा।'' मुझे सन्तोष न हुआ। ढूँढने में ही लगा रहा। रात्रि का डेड़ बज चुका था। मैं बुरी तरह परेशान होकर खीजकर बिना नित्यकर्म से निपटे, बिना भोजन किये ही चारपाई पर लेट गया। मुझे नींद आ गई। प्रातः पौन छह बजे का समय था। शायद मैं अर्द्धजाग्रत अवस्था में था और उसी स्थिति में मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि एक पुट्ठे का बना बनियान का डिब्बा जिसके ऊपर एक लड़की का चित्र है जो तीरकमान हाथ में लिये है और डोरी खींचे हुए तीर चला रही है और जिस पर प्रिन्सेज लिखा था कलैन्डर की भाँति आकर रुक गया है। मुझे स्मरण हुआ कि कमरे में टेबिल के पीछे वाली अलमारी में नीचे के खन में बनियान के दो तीन डिब्बे रखे थे। मैंने धर्मपत्नी से उन डिब्बों को देखने को कहा। धर्मपत्नी ने ढूढँना शुरू किया। थोड़ी देर बाद वे प्रसन्नता से बोली कि वह डिब्बा मिल गया जो आप बता रहे हैं। मैने डिब्बा को मांगा और उसके अन्दर के कागजों को देखा। उसमें हमारे विभागीय ट्रेनिंग के समय के कागज थे। में एक एक कागज को देखता जाता था। अन्त में भगवती के अनुग्रह से सबसे नीचे रखी मार्कशीट मिल गई। सम्भव है, दीपावली के समय घर की सफाई करने में कागजों को रखने के साथ किसी प्रकार मार्कशीट भी उस डिब्बे में रख दी गई होगी जिसका मुझे कुछ भी स्मरण न था। धर्मपत्नी ने आश्चर्य से पूछा, 'यह आपको कैसे मालूम हो गया ?'' मैंने सहज, गम्भीर भाव से केवल यही कहा, ''माँ भगवती की माया है, उन्होंने सोचा होगा

कि मेरा बच्चा परेशान है। उन्होने मार्कशीट बतलाने के लिये यह अनूठा मार्ग अपनाया।''

श्री दयालसिंह जी, एम. एस. सी., पी. एच. डी., प्राध्यापक एवं अध्यक्ष, रसायन विभाग, राजकीय महाविद्यालय, शिवपुरी (म. प्र.) से लिखते है कि –

सन् 1947 में मुझे एक महात्मा जी से कुण्डलिनी शक्ति के बारे में जानकारी प्राप्त हुई। महात्मा जी ने कुण्डलिनी जाग्रत करने के लिये मुझे एक मंत्र भी बताया। उस मंत्र को मैंने जपा। मंत्र जपने से मेरी कुण्डलिनी तो जाग्रत नहीं हुई, किन्तु कुण्डलिनी शक्ति में मेरी अभिरुचि बहुत बढ़ गई। आध्यात्मिक पुस्तकों के पढ़ने से मुझे ज्ञात हुआ कि शक्ति सम्पन्न महात्मा अपने शिष्य की कुण्डलिनी शक्ति को दृष्टि, स्पर्श अथवा मन्त्र उच्चारण द्वारा जाग्रत कर सकता है। मैं निरन्तर ऐसे महापुरुष की तलाश में था। संयोग से सन् 1973 में आदरणीय महात्मा जी भारतीय विद्यालय शिवपुरी के सम्पर्क में आया। आदरणीय महात्मा जी के सरल जीवन, अनुभवयुक्तविचारों तथा आडम्बररहित व्यवहार ने मुझे आकर्षित कर लिया। महात्मा जी से एक सप्ताह वार्तालाप करने पर उनके अनुग्रह तथा भगवद्कृपा से मुझे अपने भीतर प्राणशक्ति (कुण्डलिनीशक्ति) का अनुभव हुआ। अन्तर्यामी भगवती माँ तुल्य है अतः वह सदैव अपने साधक के हित में तत्पर रहती है। एक वर्ष की अल्प अवधि में ही माँ भगवती की कृपा से मुझे मानसिक तथा शरीरिक लाभ हुए है। चूँकि शारीरिक लाभ प्रत्यक्ष में तो देखे जा सकते है अतः उनमें के कुछ का यहाँ उल्लेख कर रहा हूँ –

(1) लगभग 3 वर्ष से मैं अपने को हृदय रोगी अनुभव करने लगा था। बाँई करवट लेटने पर मेरी हृदय की गति प्रभावित हो उठती जिससे मैं बेचैन हो जाता था। हालत यहाँ तक बिगड़ गई थी कि मैं चन्द मिनटों के लिये भी बाँई करवट नहीं लेट सकता था। हृदय की दुर्बलता का विचार कर मैं काँप उठता था और यह सोचकर कि काफी समय जी चुका, शेष जीवन भी अभिशाप सा प्रतीत होने लगा। किन्तु साधना में बैठते बैठते मेरा हृदय रोग शनैः शनैः कम होने लगा। आज में एक घन्टे तक बाँई करवट लेट सकता हूँ और किसी प्रकार की बेचैनी का अनुभव नहीं होता।

(2) मैं डैण्ड्रफ से भी प्रभावित था। हालत यह थी कि मेरे सिर की चमड़ी सफेद हो गई थी। सिर में निरन्तर खुजली मचती रहती थी। सिर में अंगुलियाँ फेरते रहने पर डैण्ड्रफ झड़ती ही रहती थी। ऐसा प्रतीत होता था कि सिर की त्वचा डैण्ड्रफ के रूप में समाप्त होकर खोपड़ी की हड्डी दिखने लगेगी। मैंने शैम्पू, त्रिफला, निम्बुरस,

शीकाकाई आदि का खूब प्रयोग किया परन्तु लेशमात्र भी लाभ नहीं हुआ। साधना में बैठने के लगभग एक माह पश्चात मुझे एक आश्चर्यजनक अनुभव होना आरम्भ हुआ। साधना करते समय मेरे कानों में से, 'सी' की ध्वनि निकलती थी। मेरे सिर में फुन्सियाँ होने लगीं जिनमें से लेसदार द्रव निकलता थो जो जमकर अर्द्धपारदर्शी ठोस बन जाता था। सारा सिर फुन्सियों से भर गया। मैंने किसी औषधि का प्रयोग नहीं किया। कुछ ही दिनों पश्चात् फुन्सिया स्वत: ही ठीक होती गई और डैण्ड्रूफ समाप्त हो गया। डैण्ड्रूर्फ के कारण सिर के बाल झड़ते थे। किन्तु अब वे नहीं झड़ते।

(3) साधना में बैठना आरम्भ करने के पूर्व हृदयरोग तथा डैण्ड्रूफ से तो मैं पीड़ित था ही साथ मेरा पेट भी बढ़ा हुआ था और मैं मन्दपाचनक्रिया एवं गैस की बीमारी से भी त्रस्त रहता था। प्रातः यदि चाय पीने को नहीं मिल पाती तो शौचादि से निवृत्ति नहीं होती थी। सारे दिन सिर में दर्द रहता तथा शरीर में आलस्य भरा रहता था। भगवती के अनुग्रह से साधना के माध्यम से ही ये सब व्याधियाँ दूर हो गयी हैं और मेरा स्वास्थ्य अच्छा हो गया है।

(4) साधना में बैठना आरम्भ करने के कुछ समय पश्चात् से मुझे दो विचित्र क्रियाऐं हो रही है। डकारें बहुत आती हैं और नाड़ियों में गड़-बड़ की ध्वनि अनुभव होती रहती है। जब मैं साधना में बैठता हूँ तो उस अवधि में ये क्रियाऐं तीव्र हो जाती है। अभी तो इतना ही अनुभव होता है कि पेट नरम पड़ जाता है और शरीर का तनाव कम हो जाता है जिससे चित्त प्रसन्न हो जाता है। आगे चलकर इन क्रियाओं का क्या परिणाम निकलता है, देखना है।

(5) अभी लगभग दो माह पूर्व की घटना है मैं साइकिल से गिर पड़ा। गिरते समय शरीर का सारा बोझ बाँए हाथ पर पड़ा। कुछ समय पश्चात कलाई सूज गई और मैं पीड़ा से बेचैन हो गया। जो तेल आदि उपलब्ध हो सके उनसे मालिश की परन्तु कोई लाभ न हुआ। रात्रि को लगभग तीन बजे मेरी बाँह में क्रियाऐं होने लगीं। बाँह स्वतः ही ऊपर उठती और फिर मुड़कर अंगुलिया कन्धे को छूतीं। मुझे मालूम नहीं कि मुझे कब निद्रा आ गयी। प्रातः उठा तो कलाई सूजी हुई अवश्य थी परन्तु दर्द नाम मात्र को भी न था। अब मेरी कलाई भी बिल्कुल ठीक है। सचमुच, साधना नियामत है। भगवती की कृपा अगाध है।

श्री शिवराजसिंह देवकर, एम. ए., एल. एल. बी, पंचायत राज प्रशिक्षण

संस्थान, जबलपुर, से लिखते है कि -

मैंने कुण्डलिनी शक्ति की जाग्रति के लिये बहुत प्रयास किया। लगभग सन् 1954 से मैं इसी धुन में संलग्न था। काफी समय अध्ययन किया, सिद्ध पुरुषों से आशीर्वाद प्राप्त किया किन्तु मुझे विशेष लाभ न हुआ। मैंने अपने मन से उल्टी सीधी साधना भी की थी, जिसके कारण में सदैव बीमार रहता था। होते -होते मैं मिरगी जैसी गंभीर बीमारी से पीड़ित हो गया। काफी इलाज किया। बम्बई के उत्कृष्ट डॉक्टरों से इलाज करवाया। काफी पैसा खर्च किया। परन्तु, स्थायी स्वास्थ्य लाभ न मिल सका। सन् 1972 में मैं परमपूज्य महात्माजी से शिवपुरी से मिला। मैंने उनसे दीक्षा ली। दीक्षा लेने के उपरान्त मैंने महात्मा जी से कुण्डलिनी शक्ति के बारे में गहन चर्चा की। उन्होंने बड़ी सरलता से शक्ति का रहस्य समझाया और उन्होने कहा कि "शक्ति जाग्रत का साधारण अर्थ इतना ही है कि इससे मनमें स्थिरता आने लगती है, मन एकाग्र होने लगता है शरीर में हल्कापन आने लगता है और साधक को शक्ति का हर समय अनुभव होने लगता है।" साधना के फलस्वरूप मेरी दीर्घकालीन शंकाओं का समाधान क्रमशः होने लगा और मैं अनुभूति की ओर अग्रसर होने लगा। मेरे स्वास्थ्य में भी क्रमशः सुधार होना आरम्भ हो गया। शरीर में हलकाई मालूम होने लगी। चित्त शान्त होने लगा। गैसेस की तकलीफ कम होने लगी। नींद जो पहले कम आती थी ठीक से आने लगी। शारीरिक एवं मानसिकशक्ति बढ़ने लगी और दो वर्ष के उपरान्त मैं पूर्णतः स्वस्थ हो गया हूँ। अब मैं मिरगी की बीमारी से छुटकारा पा गया हूँ। दवाईयाँ प्रायः छूट गई है। स्वास्थ्य लाभ के साथ साथ पूर्ण साक्षात्कार भी हो गया है।

श्री डाक्टर गोपाल मेहता, एम. बी. बी. एस., हरदोई, उत्तर प्रदेश से लिखते है कि -

आजकल मैं काम की व्यस्तता से साधना में पर्याप्त समय नहीं बैठ पाता। हाँ, जब कभी बैठ पाता हूँ तो गहरी अनुभूति में मन चला जाता है। तब देह, स्थिति, वातावरण का भान लुप्त हो जाता है। कभी-कभी कान के पास नाड़ी फड़पन बढ़ जाती है। चेहरे पर भारीपन आ जाता है। दैनिक दिनचर्या में भी विशेष बात हो जाती है। मन एकदम शान्तएवं चिन्तारहित हो जाता है। पहले जो भी कल्पना बगैरह या ऊटपटाँग विचार आया करते थे वे नहीं आते। सामयिक वातावरणजनक उत्तेजना का प्रभाव अधिक देर नहीं रहता। क्रोध बहुत ही कम या नहीं के बराबर आता है। आध्यात्मिक

वार्तालाप में ऐसा अनुभव होता है कि शब्दों के साथ शक्ति प्रवाहित हो रही है। चेहरे पर शक्ति की हलचल अनुभव सी होने लगती है। अब पूर्व की भाँति उपवास आदि रखने की प्रेरणा नहीं होती न किसी भी तरह की आध्यात्मिक सिद्धि आदि की इच्छा होती। साधना में नियमित बैठने की भावना बनी रहती है।

श्री भैयालाल अवस्थी, शिवपुरी से लिखते हैं कि -

साधना प्राप्त करने के लगभग दो वर्ष बाद की घटना है। इस घटना से मुझे स्वास्थ्य लाभ बड़े अद्‌भुत ढंग से हुआ। मेरे हाथ पैरों में छोटे छोटे मस्से हो गये थे। मैंने समझा ये धीरे धीरे ठीक हो जावेंगे, किन्तु वे ठीक नहीं हुए। और -और, बड़े बड़े होते ही चले गये। तब मुझे बहुत चिन्ता रहने लगी। मैंने डाक्टर साहिबान को दिखलाया था। उनके कहने के अनुसार उपचार किया, किन्तु कुछ भी लाभ नहीं हुआ। फिर जिसने जो भी उपाय बताया मैंने वैसा ही करने की चेष्टा की किन्तु लाभ नहीं हुआ। मस्से और अधिक ही हो गये। उनके आकार बढ़ गये। देखने में बड़े कुरूप लगते थे। लोगो के सामने आने जाने में भी मुझे शर्म लगने लगी थी। एक दिन निराश होकर मैं पूज्य महात्मा जी के पास गया। उन्होने कहाकि 'साधक के बहुत से रोग साधना में बैठने से स्वतः ही ठीक हो जाते है।' मुझे पूज्य महात्मा जी के शब्दों से सन्तोष अनुभव हुआ।

मैं प्रतिदिन दोनों ही समय साधना में बैठता था। कुछ दिन बाद साधना में बैठते ही शरीर में बड़े वेग से कम्पन होने लगता था और ऐसा अनुभव होता था कि कठपुतली के समान किसी यंत्र से कोई मुझे नचा रहा है। अनेक प्रकार से शरीर की उठा पटक होती रहती थी। मुझे साधना में आनन्द आता था। फिर एकाएक एक आसन स्वतः ही लग जाता था। आसन का नाम मैं नही जानता। ऐसा कुछ कुछ स्मरण आता है कि मेरे पैर ऊपर की ओर हो जाते थे और कमर घूमकर सिर की ओर हो जाती थी। दोनो हाथ कमर पर रहते थे। यह क्रिया प्रतिदिन ही होने लगी थी। यह क्रम लगभग पन्द्रह दिन चला होगा। साधना में एक घंटा और कभी-कभी और अधिक समय भी लग जाता था। पैरों में जहाँ-जहाँ मस्से थे वहाँ वहाँ पर झुनझुनाहट अनुभव होती थी। हाथ तथा पैर बहुत भारी हो जाते थे। फिर मस्से में खिंचाव होने लगा था। एक दिन रात्रि को लगभग एक बजे मेरी नींद खुली तो मैंने अपने को साधना के उसी आसन लगे हुए की स्थिति में पाया जैसे ही मुझे चेतनता हुई कि आसन खुल गया। मैं विचार करने लगा कि यह सोते में मुझे क्या हुआ ? बस, फिर में सो गया। प्रातः जब उठा तो मेरे आश्चर्य का ठिकाना ही न रहा

यह देखकर कि मेरे मस्से सब झड़ गये है। हाथ, पैर बिल्कुल साफ हैं। मैने भगवती को सिर नवाया और मेरे मुख से निकल ही पड़ा कि भगवती, तेरी शक्ति अपार है, तेरी लीला वर्णनातीत है।

श्री सुन्दरलाल, फतेहपुर शिवपुरी से लिखते है कि -

मुझे शक्ति की अनुभूति किये हुए लगभग 10, 11 वर्ष हो गये। मैं प्रायः साधना में नियमित बैठता हूँ। साधना में प्रायः यही विचार दुहरते रहते है कि विचार प्रकृति द्वारा आ रहे है और जा रहे हैं मैं तो साक्षी हूँ। इस विचारधारा से मैं अधिकतर शान्ति का अनुभव करता हूँ। साधना के माध्यम से मुझे दो बार भयंकर पीड़ाओ से मुक्ति मिली। एक बार पाट उठाते समय चोर्रा चला गया, जिससे मेरी कमर में भयंकर दर्द होता रहा। तीन दिन तक कमर की मालिश कराई और दवाईयाँ भी लीं। किन्तु, मैं सीधा खड़ा न हो सकता था। अन्त में, मैंने साधना में बैठने का प्रयास किया। प्रारंभ में बड़ी मुश्किल से बैठ पाया। किन्तु बैठते ही मुझे निद्रा सी आई और मैं लेट गया। लगभग एक घंटे तक लेटा रहा। जब नींद खुली तो मुझे उठने की इच्छा हुई और मैं स्वाभाविक रूप से खड़ा हो गया। कमर का दर्द बिल्कुल मालूम न पड़ा। दो, तीन कदम आगे को बढ़ा। मेरे आँसू आने लगे। मैं सोचने लगा कि ''हम लोग कितने अंधकार में पड़े है। हम साधको पर परमात्मा की पूर्ण कृपा है।'' चौथे दिन मैं पूज्य महात्मा जी के पास गया और इस प्रसंग को संक्षेप में सुनाया। उन्होने कहा कि ''भगवती माँ साधक के साथ प्रतिक्षण रहती है और उसकी रक्षा करती है। उसे विश्वासपूर्वक नित्य ही साधना में बैठना चाहिये।''

इसी प्रकार एक बार मेरे कान में भयंकर दर्द हुआ। दो तीन माह तक मैं दुःख पाता रहा। 2, 3 डॉक्टरो का इलाज करवाया और देशी दवाईयाँ भी की पर, कोई आराम न हुआ। एक दिन पूज्य महात्मा जी से मिलने कुटिया पर गया और कान के दर्द से अपनी बेचैनी प्रकट की। उन्होने मुझसे पूछा क्या तुम साधना में बैठते हो?' मैने कहा, 'दो माह से नहीं बैठा'' उन्होने कहा अच्छा अब साधना में बैठ जाओ। मैं वहीं थोड़ी देर को साधना में बैठ गया। मुझे कुछ आराम मिला। दूसरे दिन घर में बैठा तो और अधिक आराम मिला। तीसरे दिन साधना में बैठे हुये कान में कुछ खुजली सी आई। मैंने आलपिन की उल्टी तरफ से कान को खुरेचा, तो अन्दर से एक साथ सीटी की सी आवाज आई और थोड़ी देर तक आवाज निकलती रही। कान के अन्दर जो परदा लगा था सो साफ हो गया। दर्द बिल्कुल न रहा और मुझे अच्छी तरह से सुनाई देने लगा। मैंने मन ही मन भगवती के चरणों में सिर नवाया। चित्त अत्यंत प्रसन्न हुआ।

श्री राजाराम कुशवाह, पुरानी शिवपुरी से लिखते हैं कि –

मुझे साधना में बैठने से सबसे अधिक लाभ यह हुआ कि दीक्षा में बैठने से पहले मुझे क्रोध बहुत आता था। झुनझुनाहट आती थी जिससे मन प्रायः अशान्त हो जाता था। अब साधना में बैठते –बैठते एवं माँ शक्ति का स्मरण रहने से क्रोध की मात्रा बहुत कम रह गई है। घर के काम व दफ्तर के काम करने में मुझे जब-जब परेशानी होती है, तब-तब सत्संग में सुझाये गये मार्गदर्शन के अनुसार साधना के मूड में होते ही भगवती माँ की कृपा से शांति आ जाती है। परेशानी मिट जाती है। प्रायः चित्त सदैव प्रसन्न बना रहता है।

श्री पुरूषोत्तमदास जी सिंघल, बी. एस. सी. ए. जी., मुंगावली से लिखते है कि –

मैं अधिकतर साधना में बैठता हूं। साधना से उठने पर शरीर हल्का हो जाता है बदन में फुर्ती अनुभव होती है। काम करने को जी चाहता है। स्वास्थ्य ठीक रहता है। साथ ही, जब भी मुझे समय मिल जाता है मैं पूज्य महात्मा जी, भारतीय विद्यालय, शिवपुरी से मार्गदर्शन लेता रहता हूँ। शक्ति के अनुग्रह तथा पूज्य गुरुजी की कृपा से मुझे मानसिक लाभ स्पष्ट अनुभव होते है। जब भी कोई दुखद वातावरण उत्पन्न हो जाता है, परेशानियाँ आने लगती है तब शक्ति का स्मरण आते ही राहत मिलने लगती है। हाँ, परेशानियाँ जब उग्ररूप धारण कर लेती है तब कुछ क्षण के लिये तो मुझे दुःख अनुभव होता है किन्तु साधना में बैठते ही शक्ति की कृपा से दुःख गायब हो जाता है। ऐसे विचार आने लगते हैं कि "सुख-दुःख का जोड़ा है जो हमेशा आवेगा इसमें बहना नहीं है, प्रत्येक व्यक्ति उस परम शक्ति का ही एक अंग है, दूसरा तो कोई है नहीं। यदि किसी ने क्रोध में आकर कोई अपमानजनक बात कह दी तो मेरे एक ही अंग ने तो वास्तव में कही है।" ऐसा मन में आते ही क्रोध की भावना दबने लगती है और चित्त शांति अनुभव करने लगता है।

श्रीमती रामश्री बाई, ग्राम रेंहट, जिला ग्वालियर से लिखती है कि –

मैं जब अबोध बालिका ही थी तब ही विधवा हो गई। मैंने भक्तिमार्ग को ही अपनाया था। शरीर निर्वाह हेतु श्रम करने के समय को छोड़कर मैं सारा समय भगवान् की पूजा, आराधना में ही व्यतीत करती थी। साधु-संत की संगति से अब से 6, 7 वर्ष

पहले मैंने तीन वर्ष के व्रत का संकल्प लिया था। फलाहार की दृष्टि से मैं केवल राजगिरह तथा मूँगफली लेती थी। मेरा दैनिक ही भजन का यह क्रम था कि एक पाठ रामायण के नवधा का पूरा करती थी तथा 4 हजार भगवन्नाम का जप करती थी। व्रत की स्थिति में ही चारोंधाम की यात्रा का मैंने संकल्प ले लिया। श्रम के आधिक्य से तथा अल्प आहार तथा वह भी बादी की चीजों को खाने से मेरे मस्तिष्क में पीड़ा होने लगी। पीड़ा बहुत ही असहनीय थी। कभी-कभी मन में आता था कि ऐसे जीवन से मरना अच्छा है। आत्महत्या करने का भी विचार आ जाता था। तीन साल तक दुःख भुगतने के पश्चात् मुझे पूज्य महात्मा जी भारतीय विद्यालय का परिचय मिला। एक दिन में उनके पास गई और दीक्षा देने के लिये प्रार्थना की। महात्मा जी ने कुछ समय तक साधक के जीवन का ज्ञान कराया। लगभग प्रातः 7 बजे मुझे अनुभूति के लिये साधना कक्ष में बैठा दिया। दीक्षा में बैठते ही मेरी आँखे बन्द हो गई, नशा सा आने लगा। शनैः-शनैः मुझे रुलाई आने लगी और मैं रोते रोते बेहोश सी हो गई। जब रोना बन्द हुआ और हल्की हल्की हिचकियाँ आ रही थीं तब महात्मा जी मेरे सामने आकर खड़े हो गये। मेरे बाल बिखरे हुये थे और गला प्रेम के कारण रुँध रहा था। मैं एकदम उनके चरणों पर गिर पड़ी। उन्होने मुझे सावधान किया और पूछा ''रामश्री, तुम्हे रोते- रोते कितना समय हो गया होगा ? तुम्हे पता है क्या ?'' मैंने कहा कि मुझे जान पड़ता है कि थोड़ा ही समय हुआ होगा। महात्मा जी ने मुझे घड़ी दिखाते हुये कहा कि ''सात बजे से तुम्हे रोना शुरू हुआ था, अब साड़े ग्यारह बजे हैं, तुम साड़े चार घंटे तक रोती रहीं, गरम-गरम आँसू बहाती रहीं। अच्छा, बताओ अब तुम्हारे सिर का दर्द कैसा है ?'' मेरे चेहरे पर प्रसन्नता की लहर दौड़ रही थी। मैने अत्यन्त प्रसन्नता से कहा - 'महाराज, तीन साड़े तीन वर्ष में आज सुख अनुभव करती हूँ। अब सिरदर्द बिल्कुल भी नहीं। मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ।'' उस दिन से अब करीब चार वर्ष हो गये हैं, अब तक सिरदर्द नहीं हुआ।

श्री भगवानलाल पाठक, जौरा से लिखते है कि -

मैं लगभग तीन वर्ष से माँ भगवती की शरण में आया हूँ। मैं नियमित साधना में बैठता हूँ। शरण में आने से पूर्व न तो मैंने आसन लगाया, न प्राणायाम किया। किन्तु साधना में मुझे शीर्षासन हलासन, पश्चिमोत्तासन आदि स्वतः ही होते है। अनेक प्रकार से प्राणायाम आदि की क्रियायें भी होती है। इन सब क्रियाओं से मेरा शरीर स्वस्थ रहता है। मुझे पेट में अकसर बादी की शिकायत रहती थी। साधना में असंख्य डकारों से बादी शरीर से बाहर निकलती थी। अब बादी की शिकायत नहीं है। संध्या को साधना

में बैठते ही शरीर बहुत हल्का हो जाता है। दिनभर की थकान दूर हो जाती है।

लगभग एक माह हुआ मेरे दाहिने पैर में रात को बाहर सोने से गठानें पड़ गई थी। प्रातः चलने -फिरने में काफी तकलीफ महसूस हुई। घर वालों ने बहुत आग्रह किया कि मैं तारपीन तेल की मालिश कर लूं या डाक्टर को दिखाकर दवा ले लूं। किन्तु मुझे साधना में बैठने की प्रेरणा हुई। पहले दिन बैठने पर ही मालूम हुआ कि तकलीफ कम हो गई और दूसरे दिन जब मैं साधना से उठा तो मुझे तकलीफ हुई भी थी क्या यह पता न लगा। माँ की शरण में रहकर भी क्या कोई दुःखी हो सकता है ? वहाँ तो सुख ही सुख है।

श्री सीताराम शिवहरे, शिवपुरी से लिखते है कि -

सन् 1966 में, मैं पिछोर में अपनी ड्यूटी पर कार्यरत था। एक दिन अचानक पत्थर पर से पैर उलट गया और मोच आ गई। रात्रि में पैर बहुत सूज गया। प्रातः मैं गुरु महाराज का स्मरण कर साधना में बैठ गया तो सूजी हुई जगह पर मेरा हाथ अपने आप ही धीरे-धीरे फिरने लगा और जैसे-जैसे वेग बढ़ने लगा तैसे तैसे रगड़ शीघ्रता से होने लगी। वेग कम होने पर मुझे पैर में आराम अनुभव हुआ। अनुमान से ऐसी क्रियायें साधना में तीन चार बार हुई होंगी। भगवती माँ की दया से सूजन भी चली गई और मोच ठीक हो गई। इसी प्रकार मुझे स्मरण है कि एक बार पेट की नस (धरन) भी सरक गई थी, जिससे पेट में दर्द होता था। भगवती माँ की कृपा से साधना में बैठने से ही पेट का दर्द दूर हो गया और धरन भी अपनी ठीक जगह पर पहुँच गई।

श्री सरदार जगेन्द्रसिंह नागपाल, सब इंजीनियर, सिंचाई, कुरवाई, विदिशा से लिखते है कि -

शक्ति की अनूभूति के उपरान्त यद्यपि में नियमित साधना में तो नही बैठ पाता किन्तु में विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ प्रतिदिन साधना में बैठना आवश्यक है। तभी साधक अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँच सकता है। मैं अपने अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ कि साधना में बैठने से परम शान्ति अनुभव होती है। दुःखों को सहने की शक्ति मिलती है। साधना में अन्तः प्रेरणा के अनुसार बर्तने से कर्म में सफलता मिलती है। यह विश्वास दृढ़ होने लगता है कि सब काम स्वतः ही हो रहे है। साधना का स्वास्थ्य पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है। स्वास्थ्य में सुधार भी होता है। हाँ धैर्य की आवश्यकता है। साथ ही सतत् साधना में बैठना चाहिये। माँ भगवती में अटूट विश्वास अपेक्षित है।

श्री दामोदरप्रसाद जी शर्मा, अध्यापक, बिजरौनी जिला शिवपुरी से लिखते है कि –

साधना लेने से पूर्व मैं स्वप्नदोष रोग से पीड़ित था। शरीर में आलस्य भरा रहता था। चित्त में उद्विग्नता रहती थी। मन किसी काम में लगता न था। किन्तु जब से पूज्य महात्मा जी की मैंने शरण ली और उन्होने कृपा करके जो साधना पद्धति बतलाई मैं उसी पद्धति का अनुसरण आज तक कर रहा हूँ। दिव्यशक्ति के प्रभाव से मेरा रोग पूर्णतः समाप्त हो गया यदि कभी स्वप्नदोष होने का समय आता है तो गाढ़ निद्रा में ही एकाएक दिव्यशक्ति से पूर्ण शरीर में कम्पन हो जाता है। शक्ति से पेट पिचक जाता है और गुदा के पूरे अवयव बड़ी ताकत के साथ आकुंचन होने लगते है जिससे शुक्र गिरने के बजाय ऊपर चढ़ने लगता है। ऊपर की ओर चढ़ते ही निद्रा खुल जाती है। इस क्रिया का परिणाम यह होता है कि दिनभर मेरे हाथ पैरों में तथा शरीर के सब अंगों में स्फूर्ति रहती है। दिमाग शान्त हो जाता है। दृढ़ता अनुभव होती है। दिन में काम करते समय भी समाधिस्थ जैसी अवस्था बनी रहती है यानी सब काम करते हुए भी अकर्ता जैसी अवस्था रहती है। सचमुच मुझे तो साधना वरदान सिद्ध हुई।

श्री कृष्णगोपाल पाराशर, ऑक्ट्राइ इन्सपेक्टर, ग्वालियर से लिखते है कि –

मुझे पूज्य महात्मा जी से साधना की दीक्षा लिए हुए लगभग आठ वर्ष हुए होंगे। मैं नियमित साधना में तो नही बैठ सका किन्तु, जितना भी बैठा हूँ उससे मुझे शारीरिक लाभ काफी हुआ है। मुझे पेट में गैस की शिकायत थी। वह अब दो आने भर ही रह गई है। दोनों समय खुलकर दस्त जाने लगा हूं। दिमाग की शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ रही है। शान्ति अनुभव होती हैं। परमात्मसत्ता में दृढ़ विश्वास हुआ है। मन का भय भी दूर हो गया है। यह सब साधना में बैठने का फल है। वैसे तो शक्ति की अनुभूति हर समय होती रहती है किन्तु पूज्य महात्मा जी के सामने जाने पर शक्ति का वेग अधिक अनुभव होता है।

श्री धर्मवीर त्रिवेदी, एम. ए. साहित्यरत्न (हिन्दी, इतिहास) विज्ञान रत्न (कृषि), हिन्दी-साहित्याचार्य, आयुर्वेदरत्न, एल. एल. बी. (प्री.) शिक्षा विशारद, प्राचार्य, भारतीय उच्चतर मा. विद्यालय, शिवपुरी (म. प्र.) एवं सदस्य, विषय समिति, माध्यमिक शिक्षा मण्डल म. प्र. भोपाल से लिखते है कि –

साधना की अनुभूति को शब्दों में व्यक्त करने में स्वयं को असमर्थ सा समझता हूँ। मुझे तो वह कुछ ऐसा ही लगा जैसे कि- ''ज्यों गूंगहि मीठे फल को रस अंतरगत ही भावै।'' साधना का रस कैसा है ? निश्चय ही वह अव्यक्त है। द्रष्टा भाव में साधना के मध्य कैसे और क्यों हो रहा है यह तो भान ही नही होता -इधर विचार तक नहीं जाता केवल साक्षी रहती है इस भाव की कि क्या हो रहा है। उसमें से सभी कुछ बाद तक मुझे तो स्मरण भी नहीं रहता केवल कुछ क्रियाऐं ही स्मरण रहती है और तब साधना से उठने के बाद उनको कार्य कारण सम्बन्ध में देखने पर अनुभव ने यही बताया है कि वे मुझे शारीरिक आरोग्य प्रदान करने में सक्षम ऐसी क्रियाऐं होती है जो या तो पूर्व में मेरी जानकारी में नहीं थीं या जिन्हें मैं सामान्य स्थिति में अभ्यासहीनता अथवा क्रियाओं की कठिनता के कारण कर ही नहीं सकता था।

इसके साथ ही साधना का दूसरा प्रभाव मानसिक अनुभव करता हूँ। मानसिक तनाव को कम किंवा समाप्त करने में एवं जीवन के संघर्षो में मस्तिष्क को संतुलित रखने में साधना का विशिष्ट योग रहता है। नित्य साधना में बैठना अत्यन्त उपयोगी है किन्तु अभी भगवती की इच्छा शायद ऐसी नहीं है अतः नित्य नियमित नहीं बैठ पाता। फिर भी यथावकाश बैठता हूँ और इससे भी मुझे पर्याप्त लाभ हुआ है। विचारता हूँ कि दैनिक बैठूं तो लाभ ही लाभ है। किन्तु यह भी तो भगवती की कृपा पर निर्भर है। जब होगी, निश्चय ही बैठूंगा। फिर भी यह सत्य है कि साधना ''परम स्वादु सबहीं सों निरंतर अमित तोष उपजावत'' है।

श्री सुरेशकुमार गोयल, एम. ई. (मशीन डिजायन) चीफ डिजायन इंजीनियर, बम्बई से लिखते है कि -

मैं एक अत्यन्त व्यस्त व यांत्रिक जीवन व्यतीत करता आ रहा हूँ। इस कारण कॉलेज के समय से ही कार्याधिक्य से समय की कमी व थकान तथा उदासी का अनुभव करता था। सौभाग्यवश पूज्य महात्मा जी से मेरा सम्पर्क हुआ और एक अनुपम कला का ज्ञान हुआ जो कि मेरे जीवन को वरदान स्वरूप सिद्ध हुई।

जैसे-जैसे मैं साधना बताये अनुसार करता गया मुझे और-और विश्वास होता गया और मैं इससे लाभ उठाता गया। मैंने इस साधना को, जिसको मैं परम विश्राम की एक महान कला (A Great Art of Absolute Rest & Relaxation) कहता हूँ, व्यावहारिक रूप में लाभदायक पाया। कॉलेज में 8-9 घण्टे के व्यस्त व थकानपूर्ण

कार्य के बाद आध एक घंटे की यह साधना ने मुझे विशेष ताजगी, स्फूर्ति व शक्ति दी। मैं सदैव इस साधना को मनोरंजन व खेलों से अधिक महत्व देता रहा। क्योंकि अधिक थकान पर मुझे शान्ति व स्फूर्ति प्राप्त होती रही है।

साधना के समय होने वाली स्वतः संचालित क्रियायें (Automatic Movements) वस्तुतः आश्चर्यजनक है जो शरीर के एक-एक कोष (Cell) को नवजीवन देकर स्फूर्ति का अनुभव कराती हैं। एक वैज्ञानिक तर्कपूर्ण मस्तिष्क होते हुए भी मैं इसकी सत्यता व अद्‌भुत शक्ति से पूर्ण तरह प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। यह एक वैज्ञानिक सत्य (Scientific Fact) है। मैंने विशेष नियमित रूप से किये बिना अत्यन्त लाभ उठाया तो नियमित रूप से होने वाले लाभ में कुछ भी संदेह नहीं किया जा सकता। मैं अब भी इस साधना के द्वारा थकान व उदासी से विशेष मुक्ति पाता हूँ।

श्री शंकरलाल सारस्वत, बास्केट बॉल कोच, कोलन बैस्ट जर्मनी से लिखते हैं कि-

मैनें 25-2-68 को पूज्य महात्मा जी, भारतीय विद्यालय शिवपुरी से दीक्षा ली तथा साधना पद्धति को समझा। तब से प्रायः मैं नियमित ही साधना में बैठ रहा हूँ। शारीरिक शिक्षण व्यायामादि देने का ही मेरा काम है। खेल कूद में मेरे शरीर में अनेक चोटें लग चुकी थी। उनमें समय समय पर दर्द हुआ करता था। व्यायामादि करने में शरीर बुरी तरह से थक जाता था। साधना में बैठने से मेरे शरीर के अनुसार स्वतः ही आसन प्राणायामादि तथा अनेक प्रकार की शारीरिक क्रियायें होती रहती है। जैसे सिर का जमीन में गिर पड़ना, पेट के बल लेटे-लेटे अनेक क्रियाओं का होना, गर्दन का दायें बायें घूमना, जमीन पर अत्यन्त बल पूर्वक चिपकना भुजंगासन की क्रिया बार-बार होना, साइड रोल यानी बगल से लुढ़कते -लुढ़कते दूर तक चले जाना, कन्धे से पूरी भुजाओं का रोटेशन बारी बारी से होना, टांगों को दायें बायें फेंकना, कभी-कभी अत्यन्त बलपूर्वक सिर पर हाथ रखना, चेहरे पर, पेट पर, पसलियों पर तथा टांगों पर खूब जोर से हाथ फेरना। अधिकतर दायें भाग पर क्रियायें होती हैं। इसी तरह पीठ, हिप्स, नाक पर क्रियायें होती है। आलथी-पालथी मारकर बैठ जाना, रीड की हड्‌डी में खिंचाव होकर बिल्कुल सीधा बैठना। पीठ पर से तथा गर्दन से बार बार झुकना और फिर ऊपर उठना। बार-बार जोर से नाक के जरिये श्वास का बाहर जाना। मुख से लम्बी सांस लेना तथा बाहर छोड़ना, कभी-कभी बड़ी जोर की आवाज करना, अनर्गल

शब्द निकलना और हँसना। ऐसा स्मरण होता है कि कभी-कभी ओम् की आवाज भी निकलती तथा अरे भैया रे।' कहकर रोया भी आँसू भी आये हैं। एक बार ट्रेन में जोधपुर जा रहा था। माँ का बहुत जोर से स्मरण होने लगा, साधनावस्था में ही जिह्वा पर अत्यंत स्वादिष्ट स्वाद आने लगा।मैं आनन्द विभोर हो गया। उपरोक्त साधना में होने वाली क्रियाओं के फलस्वरूप मेरा शरीर पहले से अब बहुत स्वस्थ है। पुरानी चोटों में आराम है, दर्द नहीं होता, पहले शरीर बँधा हुआ, जकड़ा सा रहता था। अब ढीला सा और भाग-दौड़, और उछलकूद में बढ़िया है। श्वास पहले एक नथुने से अधिक चलती थी, अब प्रायः दोनो नथुनों से ठीक चलती है। पहिले दाहिनी तरफ का फेंफड़ा ठीक तरह काम नहीं करता था अब वह ठीक तरह काम करता है, ऐसा मुझे लगता है खेलने कूदने में हमेशा उत्साह रहता है। पहले मुख से दुर्गन्ध आया करती थी, अब नहीं आती। पहले हर काम करने में भय लगता था, अब दूर हो गया।

माँ की प्रतिक्षण उपस्थिति का विश्वास होने से चिन्ताऐं समाप्त हो गईं। राग-द्वेष से प्रायः दूर रहने लगा, अब कर्तव्य का ही ध्यान रहता है। माँ के अनुग्रह से अब प्रातः-सायं साधना में बैठना बहुत अच्छा लगता है। काल्पनिक योजना गढ़ने में अब रूचि नहीं रही। यही भावना बढ़ती है कि समय आने पर सब ठीक हो जावेगा। हँसी-दिल्लगी करने में रुचि हटने लगी। काम, क्रोध, लोभ आदि विकार भी पहले से बहुत कम हो गये है। माँ की कृपा है।

श्री एल. पी. सक्सेना (श्री नामदास), आगरा से लिखते है कि -

मुझे लगभग एक वर्ष साधना में बैठते हो गया है। शक्ति के अनुग्रह से, उत्तरोत्तर आर्थिक हानि के होते हुए भी मैं एकान्त और शान्तजीवन व्यतीत कर रहा था कि एक दिन ज्वाराक्रान्त हुआ। 12 फरवरी को बीमार हुआ। 16 फरवरी को डा. महोदय की औषधि ही विष बन गई। ता. 18 की रात्रि के दो बजे प्राण कंठगत होते हुए देख सहधर्मिणी जी की भी वही अवस्था हो गई। किन्तु क्या चमत्कार ? मेरी गुरुदेव में अत्यन्त निष्ठा होने से भगवती माँ ही गुरुदेव के रूप में आई। मैंने उन्हें गुरुदेव ही समझा। उन्होने मेरी ग्रीवा को निज कर कमलों द्वारा पकड़कर मेरे प्राणों को नीचे उतारने की प्रक्रिया प्रारंभ की। दूसरी ओर उन्ही के निर्देशानुसार पुत्र राममोहन ने भी उसी प्रक्रिया द्वारा अपनी पूज्य माताजी के प्राणों को उतार कर गणेशस्थान रीढ की हड्डी के नीचे का भाग मूलाधार तक पहुँचाया। दोनों का नवीन जीवन ! गुरुदेव बिना बोले अदृश्य हो

गये। इससे चित्त में भारी ग्लानि रही। इस ग्लानि से रोग का आक्रमण पुनः हुआ और दो माह सरोजनी नायडू अस्पताल, आगरा में व्यतीत हुए। जहाँ दो बार डाक्टरो के यह विश्वास दिलाने पर कि मुझे बेहोश न किया जावेगा, आपरेशन हुआ। और शरीर अस्थिचर्मावशिष्ट ही रह गया। प्रकृति माँ ने मेरे रक्त की एक-एक बूँद को भी जल के रूप में परिवर्तित कर बाहर निकाल फेंका।

दो माह तक कोई भोज्य पदार्थ न पहुँचने पर भी अहर्निश जागरण तथा मिलने आने वालों एवं परिचारकों से धाराप्रवाह वार्ता करते देख सभी डॉक्टर, रोगी तथा घर वाले आश्चर्य में थे, शक्ति का स्रोत इतना था कि शक्तिशाली पहलवान भी हाथ मिलाते ही भूमिसात हो जाता था। किन्तु, डॉक्टरो के बार-बार आग्रह पर भोजन आरंभ किया गया और उसके पश्चात 10 दिन में ही वह अनुपम शक्ति विलीन हो गई। शनैः शनैः रक्त संचार बढ़ा शारीरिक क्षति की पूर्ति होने लगी। अब मेरा शरीर पुनः अपने स्वरूप को प्राप्त करता जा रहा है।

मेरे विचार से साधना ने इस अवधि में मेरे शरीर को ही परिष्कृत नहीं किया, किन्तु मानसिक एवं बौद्धिक स्तर भी बदल दिया है और ध्यान एवं नाम जप तथा संकीर्तन की अनुपम विधियाँ स्वतः प्रकट हो गई हैं। संसार की भयंकरता अब सुखकारी व्यावहारिकता में आत्मसात हो चुकी है। संकल्पशून्यता ने तो एक प्रकार की अनिर्वचनीय स्थिति ला दी है जिसे मैं स्वयं भी समझने में असमर्थ हूँ।

श्री रामचरणलाल सविता, एम. ए. साहित्य तथा आयुर्वेदरत्न, बी. लिव, थाटीपुर मुरार से लिखते है कि -

मुझे लगभग 9 वर्ष साधना में बैठे हुए हो गये। अनुभूति से पूर्व मेरी शारीरिक एवं मानसिक दशा ठीक नहीं थी। सन् 1956 में पक्षाघात से मेरे बाँये सिर का अंग शिथिल हो गया था। बाहरी उपचार कराने से सुधार तो हुआ किन्तु यह विश्वास नहीं होता था कि मैं रोगमुक्त हो गया हूँ। शक्ति की अनुभूति के उपरान्त मैं प्रायः नित्य ही साधना में बैठता हूँ। साधना में जो शारीरिक क्रियायें होती थीं वे बाँये अंग की ओर ही होती रहती थीं। इन क्रियाओं के मध्य साधना की अवधि में ही कभी कभी नाक से गंदा रक्त इतनी अधिक मात्रा में निकलता था कि देखकर आश्चर्य होता था कि यह रक्त कहाँ से और कैसे निकला। किन्तु गन्दे रक्त के निकलने से सिर के भीतरी भाग में जहाँ पक्षाघात का असर हुआ था विशेष राहत मिलती थी। मुझे ऐसा अनुभव होता है, जो भी शारीरिक

क्रियायें होती है वे निश्चय ही शरीर के विकारों को दूर कर देती है। योगाभ्यास में जिन आसनों को विधिविधान से करने का निर्देश दिया है वे आसन, प्राणायामादि साधना में स्वतः ही आवश्यकतानुसार हो जाते हैं, अनुभूति से पूर्व मेरी मानसिक दशा अच्छी नहीं थी। मैं बहुत अशान्त रहता था। किन्तु, साधना में नित्य बैठने से चित्तवृत्ति अब पूर्व की अपेक्षा अधिक शान्त व स्थिर प्रतीत होती है। सामाजिक मानापमान के रहस्य तथा राजनैतिक समस्यायें साधना में बैठने पर सुलझ जाती हैं। ऐसे समाधानयुक्त विचार उठते हैं जिनसे सन्तोष हो जाता है।

सन् 1972 की बात है कि उस समय में विक्रमविश्वविद्यालय, उज्जैन में पुस्तकालय विज्ञानस्नातक परीक्षा का अध्ययन कर रहा था। उन दिनों फ्रीगंज में तीन प्रतिष्ठित विदेशी योगी महात्मा योग का प्रशिक्षण देने पधारे थे। उनमें एक महिला भी थी। मैंने उनसे योग के अन्तिम लक्ष्य की बात पूछी तो उन्होने कहा, ''योगाभ्यास से विचार स्थिर हो जाते है, यानी विचार उठते नही हैं।'' साधना के अभ्यास आधार पर मैंने कहा, 'भगवन् मेरा अनुभव तो ऐसा है कि विचार कभी स्थिर नहीं होंगे। हाँ, विचारों से पृथक् हमारा अस्तित्व है। हम उठने वाले विचारों को पढ़ सकते हैं यानी हमारे अन्दर उठने वाला विचार कौनसा है -सत्वगुणी, रजोगुणी अथवा तमोगुणी इसकी जानकारी हो सकती है। हमें आभास होता है कि हम साक्षी है।' यह सुनकर वे एकदम सावधान होकर बोले, ''तुमने यह सब कैसे जाना? तुम्हें किसने ऐसा अनुभव कराया? साक्षी भाव का अनुभव तो बहुत योगाभ्यास करने के बाद ही हो पाता है।'' मैंने अपने पूज्य महात्मा जी, भारतीय विद्यालय, शिवपुरी का नाम बताया। उन्होने आश्चर्य व्यक्त किया तथा कहा कि 'इस प्रकार की साधना उच्चकोटि की है।' मुझे विश्वास हुआ कि हमारी साधना सर्वोपरि उपलब्धि है।

श्री रघुवीरशरण शर्मा, एम. एस. सी., अध्यापक, मा. वि. सजाई, जिला शिवपुरी से लिखते है कि-

पूज्य पिताजी की प्रेरणा से मैं श्रद्धेय महात्मा जी, भारतीय विद्यालय, शिवपुरी के सम्पर्क में आया। अनुभूति के उपरान्त मैं प्रायः नित्य ही साधना में बैठता हूँ। अनुभूति से पूर्व मुझे कब्ज की बहुत शिकायत रहती थी लेकिन साधना के प्रभाव से अब किसी प्रकार की शिकायत नहीं है। मन काफी प्रसन्न रहता है। मानसिक शान्ति रहती है। एक बहुत ही आश्चर्यजनक अनुभव मुझे उस समय हुआ जब मैं बी.एस.सी. की परीक्षा दे

रहा था। मेरे हाथ में छाजन (एग्जिमा) जैसा चर्म रोग हो गया था। मैंने बहुत इलाज कराया लेकिन कोई स्थायी लाभ नहीं मिल सका। पीड़ा इतनी अधिक हो गई थी कि मुझसे लिखा बिल्कुल भी नहीं जाता था। मैं अत्यंत व्याकुल हो गया कि अब परीक्षा मे मैं कैसे लिख सकूँगा। हारकर मैंने पूज्य पिताजी के आग्रह से महात्मा जी से कहा कि 'आप इस पीड़ित हाथ पर केवल अपना हाथ फेर दीजिये।' पू. महात्मा जी ने कहा 'तुम विज्ञान के विद्यार्थी हो, हाथ की पीड़ा इलाज से दूर होगी न किसी व्यक्ति के हाथ फेर देने से।' मैंने कहा, "महात्मा जी, मुझे पूर्ण विश्वास है।" तब पूज्य महात्मा जी ने मुझे साधना में बैठ जाने का आदेश दिया। मैं विश्वासपूर्वक तुरन्त साधना में बैठ गया। पूज्य महात्मा जी ने भी हल्के से अपना हाथ मेरे शरीर पर फेर दिया था, ऐसा मुझे कुछ कुछ भान है। साधना में लगभग 40-50 मिनिट बैठा रहा हूँगा। जब में उठा तो पीड़ा बहुत कुछ समाप्त हो गई थी। शनैः-शनैः साधना में बैठते बैठते ही एक दो दिन में बिलकुल पीड़ा मिट गई। मैं आनन्द पूर्वक परीक्षा में लिख सका। जहाँ साधना के माध्यम से शरीर के रोग दूर होते है वहाँ अनुभव हुआ है कि काम, क्रोधादि विकार भी मेरे बहुत कुछ कम हुए है। मुझे तो, सचमुच साधना बहुत ही लाभदायक सिद्ध हुई है।

बाबा श्रीराम, जो मध्यप्रदेश के भिण्ड मंडल में प्रायः 'नंगा बाबा' के नाम से प्रसिद्ध है एक मननशील, कर्तव्यपरायण एवं प्रभुभक्त संत हैं। आप सदैव ग्रामों में विचरते रहते हैं। अपने अनुभवो से जनताजनार्दन को लाभ पहुँचाते रहते हैं और स्वयं भी अपने अनुभवों की वृद्धि करते रहते है। वे लिखते हैं कि -

मुझे लगभग डेढ़ वर्ष पूर्व पूज्य महात्मा जी, भारतीय विद्यालय शिवपुरी के साहित्य को पढ़ने का अवसर मिला। मैं उनकी इस विचारधारा से अधिक प्रभावित हुआ कि 'आध्यात्मिकता जीवनयापन की एक कला है।' मैं भारतीय विद्यालय शिवपुरी गया और महात्मा जी से अपना सीधा सम्पर्क साधा। उनके आडम्बर रहित व्यवहार ने मुझे और भी आकर्षित कर लिया। उन्होने मुझे कुण्डलिनी शक्ति का रहस्य सरल शब्दों में समझाया और साधनापद्धति से अवगत कराया। शक्ति की अनुभूति के उपरान्त मैने साधनापद्धति को अपने जीवन में उतारा तो मुझे आश्चर्यजनक शारीरिक एवं मानसिक लाभ हुये जो संक्षेप में इस प्रकार हैं :-

शक्ति की अनुभूति से मेरा भोजन स्वतः ही संतुलित हो गया है। बबासीर है, पर वह दबी रहती है। स्वास्थ्य ठीक रखने हेतु अनुभूति से पूर्व मुझे आसन, व्यायाम विभिन्न

प्रकार के प्राणायाम नित्य करने पड़ते थे। वे अब स्वतः ही अस्वस्थ होने पर स्वाभाविक रूप में हो जाते है। अब स्वास्थ्य साधारणतः ठीक रहता है। मानसिक दृष्टि से शक्ति का प्रभाव यह हुआ है कि क्रोध तो बाहर कभी प्रकट नहीं हो पाता पर यदाकदा हल्की सी खिन्नता भीतर ही भीतर आती है और तुरन्त बेग से भीतर ही दब जाती है। अहंकार जैसे ही आता है वैसे ही दब जाता है और प्रकृति का सेवक बन जाता है दूसरे विकार करीब-करीब समाप्त हैं। आज की स्थिति तो यह है आगे जो प्रकृति करवावेगी वह होगा।

मुझे यह उचित दिखा कि जिस प्रकार मैं अंधेरे से प्रकाश में आया हूं वैसे ही मैं अपने अनुयायियों का भी अंधकार दूर करा दूँ और उन्हे प्रकाश में ले आऊँ। अतः मैं अपने कुछ अनुयायियों को लेकर शिवपुरी आया और पूज्य महात्मा जी के माध्यम से उन्हें शक्ति की अनुभूति करवाई। पूज्य महात्मा जी ने मुझसे कहा ''गरीब आदमियों को भिण्ड से शिवपुरी तक आने जाने में बहुत खर्च उठाना पड़ता है अतः यह अच्छा है कि आप ही अपने श्रद्धालुजनों को साधना पद्धति समझा दिया करें।'' पूज्य महात्मा जी के आदेश का मैंने पालन किया और भगवती के अनुग्रह से मेरे माध्यम से भी कुछ भक्तों को अनुभूति हो गई है। अनुभूति करने वाले भक्तों में से कुछ के अनुभव उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है :-

श्री जगतसिंह जी, चौरेला, इटावा जिला, अपने विचार व्यक्त करते हैं कि -

टट्टी जाते समय गुदा बचपन से निकलती थी। साधना लेने से पूर्व हाथ से दबाकर अन्दर करनी पड़ती थी। अब साधना का प्रभाव यह हुआ है कि अपने आप अन्दर चली जाती हैं। साथ ही मेरे मानसिक विकार कम हुए है।

श्री गिरधारीलाल जी प्रजापति, मेहरा बुजुर्ग, भिंड अपने विचार व्यक्त करते हैं कि -

शक्ति की अनुभूति के बाद साधना में बैठने से शरीर में रहने वाली सुस्ती व आलस्य दूर हुआ है। चर्म रोग भी मिट गये है। क्रोध व चिन्ता में बहुत कमी आई है। सुख-दुःख से परे रहने का अभ्यास हुआ है। कठिन श्रम करने के बाद भी थकावट नहीं आती। साक्षीभाव रखने में दृढ़ता आई है।

श्री कल्याण सिंह जी कुशवाह, मेहरा बुजुर्ग, भिंड, लिखते हैं कि -

साधना में बैठने से क्रोध की मात्रा बहुत घटी है। साथ ही बुरे विचार आया करते थे वे अब नहीं आते।

श्री श्रीराम जी बघेले, मेहरा बुजुर्ग, भिंड लिखते हैं कि -

साधना में बैठने से प्रायः सभी मानसिक विकारों में भारी कमी हुई है।

श्रीमती सुरबारनी बाई, मेहरा बुजुर्ग, भिंड लिखती हैं कि -

मेरी आयु अस्सी वर्ष की है किन्तु, साधना में बैठने में मुझे कठिन परिश्रम करने पर भी अधिक थकावट नहीं आती। एक बार अवश्य अहंकारवश श्रम करने से गिर पड़ी थी किन्तु मुझे चोट नहीं आई। मैं तत्काल ही उठकर पूरी स्फूर्ति से श्रम में लग गई।

श्री देववती भारद्वाज, पुरोहित, मेहरा, भिंड अपने विचार व्यक्त करती हैं कि -

साधना लेने से पूर्व कभी श्रम के कार्य मैंने विशेष नहीं किये थे। किन्तु अब शक्ति की अनुभूति के बाद कठोरतमश्रम भी कर लेती हूँ। साथ ही, थकावट भी अनुभव नहीं होती।

श्री गंगासिंह जी, चौधरी, सुकाण्ड, भिंड़ लिखते हैं कि -

मैं लकवा से पीड़ित था। मैंने काफी उपचार किया, दवाईयाँ खाई किन्तु लाभ नहीं हुआ। फरवरी 75 से बाबाजी की कृपा से मैं साधना में बैठने लगा। मै। साधना लेने से पूर्व विलासी एवं मदिरासेवी भी था। भगवती के अनुग्रह से साधना में मुझे कभी कोई स्त्री ही न दिखी। साथ ही मेरी वासनामय कुभावनायें भी नष्ट हो गई है। साधना में आमतौर से मुझे सन्तों के ही दर्शन होते है। क्रोध के सिवाय अन्य मानसिक रोग क्षीण हो गये हैं और क्रोध भी घटता जा रहा है। वैसे अभी भी मैं चलने में असमर्थ हूँ। बैसाखियों यानी विशेष प्रकार की लकड़ियों के सहारे ही चल पाता हूँ। किन्तु, जब साधना में बैठने को जाता हूं तो बिना सहारे के चला जाता हूँ। एकान्त में साधना में बैठने को में दो फर्लांग तक भी बिना सहारे के चला जाता हूँ मानो मुझे लकवा मारा ही न हो। एक बार में बाबा महाराज जिस गांव में थे उसी गांव में जाकर उनके सामने साधना में बैठने की इच्छा से चार फर्लांग तक गया किन्तु, फिर विचार बदल गया और लौटकर

अपने स्थान पर आकर साधना में बैठा। इस प्रकार एक मील बिना सहारे के ऐसे चला गया मानों लकवा पीड़ित मैं हूँ ही नहीं। साधना में कभी कभी एक पैर के बल बड़ी देर तक खड़ा रहता हूँ। कभी-कभी साधना में बैठे हुए ही ऐसी भावना कानों में सुनाई देती है कि मेरे ऊपर न छोड़, कुछ दवाई भी कर ले।'

सौ. शीलावाई, रामचन्द्रराव होलकर 7 बारा भाई कैम्प, इन्दौर से लिखती हैं कि -

मेरा शरीर बचपन से ही दैविक शक्ति के प्रभाव से प्रभावित होता रहा है। ऐसी कई घटनायें भी घटी जिनसे तत्कालीन संबंधित वर्ग अधिक प्रभावित था। उम्र के अनुसार अनुभव भी बढ़ता गया तथा शरीर भी शक्ति से अत्यधिक प्रभावित होता गया। इसे देवी का रूप समझा गया। नवरात्रि के दिनों में शक्ति का संचार शरीर में अत्यधिक होता था। ऐसी स्थिति में वाणी का उच्चारण स्पष्ट न होने से किसी भी देवी का नाम नहीं दिया गया। वाणी के स्पष्ट उच्चारण हेतु 105 महारुद्रका अभिषेक तथा पवित्र नदियों में स्नान का मार्गदर्शन हुआ। शिवपुरी में भी महारुद्र का एक अभिषेक सम्पन्न हुआ।

हम लोग शासकीय कृषि फार्म, हातौद शिवपुरी पर थे। सरकारी ताँगे से शिवपुरी आना जाना कार्यवश हुआ करता था। एक बार शाम का समय था। छत्री के आगे वाले फाटक (कर्बला फाटक) पर उसके बन्द होने के पहले पहुँचने के विचार से हम छत्री रोड से ताँगे से जा रहे थे। जब हम श्री भारतीय विद्यालय के निकट जाने लगे तो विद्यालय के पास उस स्थान पर जहाँ पूज्य महाराज जी की कुटिया बनी हुई है ताँगा एकाएक रुक गया। अनेक प्रयत्नों के उपरान्त भी घोड़ा आगे नहीं बढ़ा। मुझे वहाँ पर एक दिव्य प्रकाश दिखा और यह विवेक हुआ कि इस स्थान से शक्ति का रहस्य खुलेगा। बड़ी कठिनाई से ताँगा विद्यालय की सीमा तक अत्यन्त धीरे-धीरे चलता रहा। सीमा समाप्त होते ही ताँगा पूर्ववत् चलने लगा। इस प्रकार मैंने पूज्य महात्मा जी के दर्शन सर्वप्रथम दिव्य प्रकाश के रूप में किये। पहले हम इस स्थान से अनभिज्ञ थे, परन्तु बाद में माहिती मिली कि यहाँ पर भारतीय विद्यालय है और उसका संचालन पूज्य महात्मा जी द्वारा होता रहा है।

अब शक्ति के मूल सिद्धान्तों की जानकारी प्राप्त करने के लिये मन की प्रवृत्ति हुई। मेरे पतिदेव श्री होलकर साहब को श्री हनुमान मंदिर में होने वाले पूज्य महात्मा जी

के प्रवचन को सुनकर सर्वप्रथम इस मार्ग पर चलने की प्रेरणा हुई। साथ ही मुझे भी पूज्य महात्मा जी के दर्शन की प्रेरणा जाग्रत हुई। अतः आगामी रविवार को हम दोनों ही पूज्य महात्मा जी के दर्शन के लिये श्री हनुमान जी के मंदिर में उपस्थित हुये। प्रवचन में पूज्य महात्मा जी का दर्शन मुझे अन्तस्तल में अनुभव हुआ। उसी समय पूज्य महात्मा जी की आँखे बन्द हो गई और साधना की स्थिति में हो गई। जहाँ पूज्य महात्मा जी बैठे थे उस स्थान पर मुझे बहुत बड़ा दिव्य प्रकाश दिखाई दिया। अब श्री होलकर साहब को पूज्य महात्मा जी की कुटिया पर जाकर दर्शन करने की प्रेरणा हुई। श्रीमान् भोंसले साहब के माध्यम से श्री होलकर साहब ने पूज्य महात्मा जी से कुटिया पर भेंट की। तीन दिन तक पूज्य महात्मा जी का सर्वश्रेष्ठ मार्गदर्शन प्राप्त किया। अगले मंगलवार दिनांक 4 जनवरी 1966 को मैं भी श्री होलकर साहब के साथ कुटिया पर आई। पूज्य महात्मा जी ने प्रथम मेरे पतिदेव श्री होलकर साहब को साधना में बैठा कर आशीर्वाद दिया और उसके बाद मुझे साधना में बैठाने का अनुग्रह किया। इसके बाद नित्य साधना में बैठने के क्रम से शरीर में जो वेग आने का क्रम था जिसे देवी का रूपक दिया गया था अब साध ाना की क्रियाओं में रूपान्तरित हो गया। फलंतः शारीरिक शिथिलता दूर हो गई। शरीर शनैः शनैः स्वस्थ रहने लगा और अब हमेशा ही अधिक कार्य करने में रुचि बढ़ रही है। पूज्य महात्मा जी के निकट सम्पर्क में रहने के फलस्वरूप साधना में दृढ़ता उत्तरोत्तर बढ़ती गई। यहाँ तक कि अभी तक मैंने कभी भी दवाइयों का प्रयोग नहीं किया है और न मैं कभी बीमार रहने पर भी बिस्तर पर रही हूँ। वैसे परिस्थितियाँ अधिक कठोर रही हैं, किन्तु साधना ने मेरे कार्य को हमेशा सचेत रखा है और मैं अपने कार्य पर आज भी भगवती के अनुग्रह से अडिग हूँ। यह सब पूज्य महात्मा जी की तथा माँ, भगवती की कृपा का फल है। उनका आशीर्वाद है। प्रतिदिन ही हर समय में अपने आपको साधना में लीन ही पाती हूं और साथ ही दैनिक कार्य को भगवती के लिये करती रहती हूँ।

श्री सरदार जगमोहन सिंह, एम. ए. (इंगलिश) बी. ऐड, डी. पी. ऐड, आनर्स पंजाबी, बी. म्यूजि, एन. आई. एस. व्याख्याता, तात्याटोपे राज्य शारीरिक प्रशिक्षण महाविद्यालय शिवपुरी (म. प्र.) लिखते है कि -

परम पूज्य महात्मा जी ने कृपा करके 27 दिसम्बर 1968 को मुझे साधना पद्धति की दीक्षा दी थी। इस साधना के अमूल्य लाभों से प्रभावित होकर मैं अपने कुछ विशेष अनुभव व्यक्त कर रहा हूँ।

शारीरिक शिक्षा के क्षेत्र में मुझे बचपन से ही लगन रही है और मैं पिछले 12 वर्षो से शारीरिक शिक्षा महाविद्यालय में शिक्षा प्रदान कर रहा हूँ शारीरिक शिक्षा में जो कुछ भी ज्ञान शरीर की वृद्धि और विकास के लिये दिया जाता है उसका सम्पूर्ण आधार बनावटी ढंग से अनुभवों के आधार पर लिया गया ज्ञान है। शारीरिक शिक्षा में कृत्रिम व्यायामों द्वारा शरीर को हृष्ट-पुष्ट तथा स्वस्थ रखने का उपाय बताया जाता है। एक सिद्धान्त जो मुख्यत: शारीरिक शिक्षा क्षेत्र में प्रचलित है वह है माँसपेशियों का तनाव तथा विश्राम अर्थात् सम्पूर्ण शरीर मांसपेशियों का बना हुआ है और मांसपेशियों की उपयुक्त वृद्धि और विकास के लिये इन पर उचित तनाव (Tension) दिया जाकर उचित विश्राम (Relaxation) दिया जाना जरूरी है। मांसपेशियो पर तनाव (Tension) कितना होना चाहिये और विश्राम (Relaxation) कैसा होना चाहिये इसकी जानकारी विज्ञान के पास नहीं है। हर व्यक्ति अपने अनुभव के आधार पर अपनी मांसपेशियो को स्वस्थ रखने के लिये मांसपेशियो से काम भी लेता है और उनको आराम भी देता है। इसके विपरीत साधना में जो अनुभव मुझे हुए है उनके आधार पर मैं यह महसूस करता हूँ और जोरदार शब्दों से लिखता हूँ कि साधना करते समय जो क्रियाऐं होती है उनमें मांसपेशियों पर उनकी जरूरत के मुताबित स्वत: तनाव (Tension) होता है और प्रत्येक नये तनाव (Tension) के पहले आवश्यक विश्राम (Relaxation) भी हो जाता है। मैंने अनुभव किया है कि कुछ क्रियाओं के होते समय मांसपेशियों के ऊपर इतना अधिक तनाव (Tension) पड़ा है कि वह अप्राकृतिक व्यायाम करते समय संभव ही नहीं है। साधना में व्यायाम की श्रृंखला शरीर की आवश्यकता के अनुसार प्राकृतिक रूप से होती है। ऐसा लगता है जैसे कोई अप्रत्यक्ष शिक्षक शरीर को आवश्यकतानुसार प्राकृतिक शारीरिक ड्रिल करवा रहा हो। मुझे अब बनावटी व्यायामों में बिल्कुल रुचि नहीं है। निस्संदेह साधना में होने वाले व्यायामों से मुझे अत्यधिक शारीरिक एवं मानसिक लाभ हुआ है।

कभी-कभी साधना के मूड में रहने से चमत्कारिक कार्य भी अनुभव में आये है। एक बार मुझे अचानक एक कक्षा में एक विशेष विषय पर बोलना पड़ा जिस पर मेरी पहले से कोई तैयारी न थी। मैने कक्षा में जाने से पहले भगवती का स्मरण किया और उसी मूड में ही कक्षा में चला गया। पैंतालीस मिनिट के पीरियड में, मैं इस प्रकार लगातार बोलता चला गया कि मुझे अपने आप की कोई सुध ही न रही। लड़कों ने कुछ दिन बाद इस पीरियड के लिखे गये नोट्स मुझको बताये तो मैं पढ़कर अचम्भे में रह

गया कि ऐसा भाषण तो मैंने कभी दिया ही नहीं। मैंने लड़कों से पूछा कि "आप लोगों ने कहाँ से नोट किया है?" लड़कों ने बताया कि "महोदय (Sir) यह आपने ही पढ़ाया है।" मैं सुनकर हैरान रह गया।

मुझे अब भगवती पर अटूट श्रद्धा है और मैं सन्त बाबा नारायण दास जी का इस ज्ञान के लिये जन्मजन्मातर तक ऋणी हूँ।

शक्ति के रहस्य का उद्घाटन

प्रकृति ने आँखे वस्तुओं को देखने के लिये दी हैं किन्तु, सत्य तो यह है कि आँखे तो यंत्रवत् है। जो शक्ति आँखों का उपयोग करती है वह है बुद्धि और जो बुद्धि का उपयोग करता है वह है अहंकार। अतः देखनेवाला तत्व मानव में अहंकार है। प्रायः जनसाधारण का अहंकार बाहर-बाहर की क्रियाओं का अनुभव करता रहता है। और ऐसे ही वह सम्पर्क में आने वाले लोगों को देखता भी है। किन्तु किसी व्यक्ति का अहंकार यदि चाहे तो अपनी बुद्धि से अपनी स्वयं की भीतरी क्रियाओं को अधिक अच्छी तरह से देख सकता है और अपने अनुभव के आधार पर दूसरे लोगों की भीतरी क्रियाओं पर भी थोड़ा बहुत प्रकाश डाल सकता है। अपने भीतर की क्रियाओं को देखने वाला अहंकार ही सर्वसाधारण की आँखो से ओझल है। केवल उसकी जानकारी व्यक्ति की बुद्धि ही कर सकती है। जब अहंकार अपनी बुद्धि की सहायता से अपने अन्दर होने वाली बौद्धिक क्रियाओं का पता लगाना आरम्भ कर देता है तो वह अपनी क्रियाओं में अपने अहंकार को ही प्रमुख रूप से दौड़धूप करता हुआ अनुभव करता है।

मेरे अहंकार ने मेरे शरीरादि की व्यवस्था के ढंग की रूपरेखा जैसी अनुभव की उसी अनुभव के आधार पर 'कुण्डलिनी' पुस्तक की समस्त सामग्री है। मेरे अहंकार का मैं स्वयं प्रतिनिधि होकर अब मैं अपने अनुभव को संक्षेप में व्यक्त कर रहा हूँ।

मुझे साधना के अभ्यास में अनुभव हुआ कि मेरा भ्रम है कि मैं अहंकार के रूप में अपने शरीर तथा इन्द्रियों का सर्वेसर्वा हूं। मेरा पद स्वामी का नहीं है, वरन सेवक का है। जब कभी भी मेरे द्वारा शरीर अथवा इन्द्रियों का दुरुपयोग किया गया तब तुरन्त ही मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि मैं शरीरादि का दुरूपयोग न करूँ अन्यथा मुझे दुःख उठाना पड़ेगा। आरम्भ में मैंने स्वामी के आदेशों की अवहेलना की। फलतः जिस इन्द्रिय का मैंने दुरुपयोग किया उसमें ही कुछ न कुछ पीड़ा हुई और उससे मुझे दुख उठाना पड़ा। जब अनेक बार मैंने कष्ट भोगा तब मुझे अपनी भूल मालूम हुई कि मैं भीतर की

आवाज की अवहेलना कर देता हूँ। वह, सचमुच, शरीर, इन्द्रियाँ आदि की और मेरी भी स्वामिनी है। जब मैंने उसके आदेश से शरीरादि का दुरुपयोग नहीं किया तो मुझे सुख मिला, कष्ट नहीं उठाना पड़ा। स्वामिनी की सत्ता की फिर मैंने प्रत्यक्ष अनुभूति भी की। मुझे प्रतीत हुआ कि वस्तुतः यही सत्ता मानव की सम्पूर्ण व्यवस्था की शक्ति है। अपने अनुभव के आधार से मैं कह सकता हूँ कि यह शक्ति का अनुभव मुझे बुद्धि से होता है। बुद्धि स्मृतिचिह्नों का भण्डार है। मुझे अनुभव हुआ कि, 'मैं पन' के समस्त स्मृति चिन्ह बुद्धि का एक अंश मात्र है। मैं उस अंश को अहंकार कह सकता हूँ। अहंकार को उचित आदेश देने के समस्त स्मृति चिन्हों का समूह भी मुझे बुद्धि का एक अंश अनुभव हुआ और अहंकार के स्मृति चिह्नों से पृथक् है। किन्तु, वे चिह्न परस्पर में इतने मिले हुए रहते है कि उनकी कार्यप्रणाली से ही उनका अन्तर मालूम होगा, वैसे नही। अहंकार के तथा चेतावनी देने के स्मृति चिह्न मस्तिष्क में कुछ तो गर्भ से ही आते है और फिर दैनिक ही उनमें बुद्धि होती रहती है तथा नये जुड़ते रहते है। चूँकि व्यक्ति 'में पन' में ही अधिकांश दैनिक जीवन व्यतीत करता है अतः 'मैं पन' के स्मृति चिह्न प्रचुर मात्रा में निर्मित हो जाते हैं। शक्ति की ओर व्यक्ति का ध्यान प्रायः बहुत ही कम रहता है। केवल शरीर के अवयवादि के दुरुपयोग करने पर कष्ट पाने की स्थिति में प्रायः मैं कभी कभी मैं कह दिया करता हूँ कि 'मैंने ठीक नहीं किया' फिर कभी कभी अपनी गलती पर पछताने लगता हूँ। जिससे पछताने के स्मृतिचिह्न भी मस्तिष्क में बनते रहते है। इस प्रकार व्यक्ति की गलती पर पछताने के स्मृति चिह्नों का समूह भी बुद्धि का एक अंश हो जाता है। किन्तु, कभी-कभी पछताते-पछताते व्यक्ति यह भी सोचने लगता है कि 'मुझसे गलती कहाँ हुई है?' और वह अपनी गलती को ढूँढने लगता है। खोजते खोजते वह इस परिणाम पर पहुँच जाता है कि शरीर के अवयव आदि का दुरुपयोग करना जब उससे आरम्भ होता है तब ही उसे चेतावनी अन्दर से मिलती है कि वह वैसा न करे नहीं तो दुख पावेगा। जब व्यक्ति इस परिणाम पर पहुंचा तो उसने शरीर के किसी अंग से जब भी अधिक काम लेने की इच्छा हुई कि तब उसने अन्दर की चेतावनी को मानकर वैसा नहीं किया। फलतः वह कष्ट पाने से बच गया। तब उसने निर्णय किया कि उसके अहंकार को सेवकवत् काम करना चाहिये तभी व्यक्ति सुखी रह सकता है और गलती होने पर जो अन्दर से व्यक्ति को सजग करदे उसे स्वामी होना चाहिये।

तब मेरा ध्यान इस ओर अधिक जाने लगा कि मेरा अहंकार सेवक रहकर अच्छा काम कर सकता है और सुखी भी रह सकता है। साथ ही मेरे अहंकार को जो चेतावनी

देता है वह मेरा स्वामी हो सकता है। किन्तु यदि मुझमें शक्ति न हो तो मैं सेवकपन का कर्त्तव्य पालन नहीं कर सकता। ऐसे ही यदि चेतावनी देने वाले संस्कारों को गतिशील करने में भी शक्ति तो चाहिए ही। बिना शक्ति के चेतावनी के संस्कार फुरेंगे ही नही। अतः मेरी प्रत्येक क्रिया में शक्ति ही सर्वेसर्वा है। बिना शक्ति के कोई कार्य नहीं हो सकता। इतना निश्चय होने पर मैंने शक्ति की रूपरेखा को खोजने का बहुत प्रयास किया किन्तु, उसकी कोई रूपरेखा अनुभव नहीं हुई तब मुझे ऐसा आभास हुआ कि आधारभूतसत्ता का अस्तित्व है तो अवश्य पर बुद्धि उसे अनुभव करने में असमर्थ है। क्योंकि, अपनी आधारभूतसत्ता को यदि व्यक्ति अपने से पृथक करके अनुभव करना चाहे तो वह कभी भी नहीं कर सकता। वस्तुतः न तो 'मैं पन' के संस्कारों की रूपरेखा हमें अनुभव में आती, न चेतावनी देने वाले संस्कारो की और न इन दोनों प्रकार के संस्कारो को गतिशील करने वाली शक्ति की। केवल 'मैं पन' से कर्म करता हुआ व्यक्ति शरीर से अनुभव होता है और सोचता हुआ व्यक्ति अपने भीतर वह सोच रहा है ऐसा अनुभव कर सकता है। किन्तु, शक्ति उससे कर्म कैसे करा रही है अथवा उससे कैसे सोचने की क्रिया करवा रही है इसका किंचित् भी आभास बुद्धि में नहीं आता और जाता है तो अत्यन्त ही अस्पष्ट। शक्ति के अस्तित्व को अनुभव करते-करते मुझे ऐसा अवश्य अनुभव हुआ कि यदि व्यक्ति न तो सेवकपन से काम करने की भावना रखे और न चेतावनी देने वाले स्वामी की क्रियाओं को अनुभव करने की भावना करे यानी स्वयं कुछ न करे, एकदम शांत हुआ बैठा रहे, उकताये नहीं, तो सम्भव है, उसे शक्ति के सम्बन्ध में कुछ तथ्य समझ में आ जावे। इतना भाव आते ही मैंने अनुभव किया कि न तो मैं अपनी ओर से कुछ कर रहा हूँ और न मैं चेतावनी देने वाली स्वामी के आदेशों का अनुभव कर रहा हूँ। मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि मेरे शरीर को कोई ऐसे हिला रहा है मानो वह स्वतः ही हिलडुल रहा हो, अनेक प्रकार की क्रियाऐं करवा रहा हो। नाक से विशेष प्रकार से श्वास चलवा रहा हो, मुख से विशेष प्रकार के शब्द निकलवा रहा हो। तब मैंने अपने को साक्षीवत् अनुभव किया और अनुभव किया कि मेरे बदन में होने वाली सब क्रियाओं का सम्पादन किसी शक्ति के माध्यम से हो रहा है। मेरा सेवकभाव आदेशों का पालन कर रहा है और चेतावनी देने का भाव आदेश दे रहा है और मैं स्वतंत्र हूँ और कुछ भी नहीं कर रहा हूँ। तब यह भली प्रकार से समझ में आने लगा कि शक्ति स्वयं ही मेरे सेवकभाव तथा चेतावनी देने के भाव का प्रयोग कर रही है। शक्ति के माध्यम से इन क्रियाओं का परिणाम बहुत ही स्वास्थ्यवर्द्धक एव चित्त को प्रसन्नकर देने वाला, स्फूर्तिदायक अनुभव हुआ। साथ ही मुझमें कर्तापन का लेशमात्र भी भाव न

था। ''सब काम शक्ति ही कर रही है अथवा करवा रही है'' ऐसी प्रत्यक्ष अनुभूति हुई। व्यक्ति केवल निमित्त मात्र है। निमित्त बनकर काम करने के भी स्मृतिचिह्न मस्तिष्क में बनते तो हैं ही। ये संस्कार व्यक्ति को कर्म के कर्ता बनने से रोकते हैं। कर्ता बनकर काम करने से सुख-दुःख का अनुभव होना अनिवार्य है। किन्तु, निमित्त बनकर कर्म करने से व्यक्ति सुख दुःख से परे शान्तस्थिति में रहता है। यह रहस्य शक्ति की क्रियाओं की अनुभूति से हुआ।

इस प्रकार शक्ति का गुप्त रहस्य मुझे शक्ति द्वारा ही प्रकट हो गया। इस अनुभव के लिये न तो मुझे पुस्तकों के आधार की आवश्यकता पड़ी न किसी ऐसे व्यक्ति की खोज की आवश्यकता प्रतीत हुई जो मुझे शान्तचित्त से जीवन व्यतीत करने में मार्गदर्शन दे। हाँ, शक्ति भी किसी आधार पर स्थित अवश्य होना चाहिये' यह तर्क से सिद्ध अवश्य होता है। किन्तु, इस रहस्य का भेद खोल देना मुझे मेरी बुद्धि से परे लगा। साथ ही ऐसा अनुभव हुआ कि इस तत्व को निर्विकारी होना चाहिये। यदि विकारी होता तो कुछ न कुछ इस विषय में भी जाना जा सकता था। फिर ऐसे भाव अन्दर से उठने लगे कि ''इस सर्वाधारसत्ता का ही तो तू अनुकरण करने लगा था जबकि तू साक्षी का अभिनय कर रहा था और शक्ति तेरे सेवकभाव व चेतावनी देने के भाव से अपना काम स्वाभाविक रूप से कर रही थी।'' किन्तु जीवननिर्वाह के लिये साधन जुटाने को यदि तुझे आवश्यकता है तो फिर तू साक्षीभाव के अभिनय को बन्द कर दे। फिर से निमित्त बनकर सेवकभाव तथा चेतावनी देने के भावों का उपयोग कर। शक्ति स्वतः ही तेरे समस्त कार्यों के करने में तुझे सहायता देगी ही। उसके लिये तुझे विनय आदि करने की आवश्यकता नहीं है। ऐसे ही वह निर्विकारीसत्ता जिसके आधार पर शक्ति भी स्वयं निर्विकारी बनी हुई तेरे कार्य करने में संलग्न है वह भी स्वाभाविक रूप से शक्ति की आधार सदा ही बनी रहेगी। अतः जीवननिर्वाह के लिये दो ही तत्व स्थूल रूप से कार्य करने में जुटे है - सेवकभाव और चेतावनी देने का भाव। हाँ तुझे साक्षीभाव को भी अवश्य अंगीकार करना पड़ेगा। कितनी ही उत्तमता से तू निमित्त बनकर कर्म भले ही किया कर पर तुझे यह भाव तो सदा ही आता रहेगा कि तू निमित्त है, तो किसके लिये ? किसके लिए तू काम करता है? यदि जिसके लिये तू निमित्त है वह तुझे अज्ञात है तो निमित्त बनने का भाव अधिक टिक न सकेगा। तू अपने को ही फिर कर्ता मानने लगेगा और सुख दुख के द्वन्द्व में उलझ जावेगा अतः तुझे जिसके लिये तू कर्म करता है उसके समीप अवश्य ही दैनिक जीवन में जाना पड़ेगा, तभी तेरे निमित्त बनने के संस्कार दृढ़

होंगे। जिसके लिये तू निमित्त बनेगा उसकी अनुभूति तुझे साक्षीभाव में पहुँचते ही होने लगेगी। तुरन्त ही तेरे सेवकभाव और चेतावनी देने के भाव शक्ति के माध्यम से क्रिया करने लगेंगे। तुझे स्पष्ट समझ में आने लगेगा कि 'मैं शक्ति के लिये कर्म करता हूँ। मेरे सेवक भाव से मेरे चेतावनी देने के भाव स्पष्ट काम कराते हुए अनुभव में आते हैं'' और यह भी स्पष्ट अनुभव होगा कि ''इधर तो मैं कुछ कर ही नहीं रहा हूँ और उधर मेरे बिना ही शारीरिक तथा मानसिक स्थिति को काम करने योग्य अत्यन्त सुचारु रूप से बनाया जा रहा है, तो कोई न कोई सर्वोत्तम सत्ता का इस कार्य में योग अवश्य होना चाहिये।'' इस सत्ता का चाहे जो कुछ भी मैं नाम रख सकता हूँ पर 'शक्ति' सम्बोधन करने से इस शब्द के नाम से भेदभाव न आवेगा। अतः मैं इस जीवननिर्वाह की सर्वश्रेष्ठसत्ता को 'शक्ति' ही कहना अधिक उपयुक्त समझता हूँ। शक्ति के बिना कोई भी कर्म सम्पादन नहीं होता और यह सत्ता ही समस्त कर्मों को सम्पादन करने वाले शरीर को स्वस्थ बनाती है तथा मानसिक स्थिति को स्फूर्तिदायक बनाती है। अतः इस महत्वपूर्ण अत्यन्त उपयोगी सत्ता को मैं 'शक्ति' कहूँ तो असंगत नहीं। इसी के लिये मैं समस्त कर्मों को करने के लिये निमित्त बना रह सकता हूँ। सत्य ही, प्रत्येक कार्य को सुचारु रूप से सम्पादन करने वाली शक्ति के लिये निमित्त बनने में सभी लोग अपना सौभाग्य समझेंगे इसमें दो मत नहीं हो सकते।

विवेचन से स्पष्ट है कि मेरा अहंकार ही मेरे समस्त शारीरिक एवं मानसिक कर्मों को करने वाला है। यदि मेरा अहंकार विवेकी है तो निश्चय ही वह कर्म करने में आने वाली समस्त विघ्नबाधाओं को हँसते-हँसते दूर करता हुआ जीवन पर्यन्त एक वीर योद्धा के समान कर्मक्षेत्र की समरभूमि में सीना तानकर युद्ध करता हुआ अनुकरणीय जीवन व्यतीत कर सकता है और यदि मेरा अहंकार अविवेकी है तो कर्मक्षेत्र की समरभूमि में कभी आगे बढ़ता हुआ और कभी पीछे भागता हुआ युद्ध करेगा। जीवन के युद्ध में कभी सफलता मिलेगी तो प्रसन्न दिखाई देगा। कभी असफलता मिलेगी तो दुःखी दिखाई देगा। वह विघ्नबाधाओं के आने पर अपने मस्तिष्क के संतुलन को रखने में डॉवाडोल चित्त रखेगा। जबकि विवेकी अहंकार अपने मस्तिष्क के संतुलन को सतत सचेष्ट रखेगा। ऐसा नहीं कि वह कभी फिसलेगा ही नहीं। वह फिसल भी सकता है पर वह शीघ्र ही सम्हल जावेगा।

अहंकार के विवेक से यही तात्पर्य है कि अहंकार को अपने स्वरूप का पूरा-पूरा ज्ञान हो। उसे ज्ञान हो कि उसे शक्ति के लिये कर्म करना है। उसे निमित्त बनकर काम

करना है। निमित्त बनकर काम करने से अहंकार कर्म के प्रतिकूल फल निकलने पर दुःखी न होगा और अनुकूल फल निकलने पर सुखी न होगा। जैसे एक सेठ का मुनीम सेठ के लिये सौदा करता है। यदि बाजार का भाव गिर गया तो सेठ को सौदे में हानि होगी। किन्तु, इस हानि को सहने वाला सेठ होगा, मुनीम नहीं। यदि मुनीम अपनी समझ से अत्यन्त ही ईमानदारी से कर्त्तव्यपालन करता है तो सेठ को हानि पहुँचाने का उत्तरदायित्व मुनीम का नहीं समझा जावेगा। हानि का कारण बाजार भाव में उतार आजाना समझा जावेगा। ऐसे ही यदि मुनीम अपनी समझ से अत्यन्त ईमानदारी से सेठ के लिये सौदा करता है और यदि बाजार का भाव चढ़ जाता है तो सौदे में लाभ होगा। इस लाभ का भागी मुनीम का सेठ ही होगा, मुनीम नहीं। लाभ का श्रेय बाजार के भाव चढ़ जाने को दिया जावेगा। मुनीम तो सेठ को लाभ-हानि पहुँचाने में केवल निमित्त था। अस्तु प्रत्येक मानव का प्रमुख कर्तव्य है कि वह अपने अहंकार को विवेकी बनाकर कर्मक्षेत्र में उतारे यानी अहंकार को यह ज्ञान पूर्णरूपेण हो जावे कि वह निमित्तमात्र है। निमित्त यदि कल्पित है अथवा अज्ञात है तो अहंकार दृढ़तापूर्वक उसके लिये निमित्त नही बन सकता। जिसके लिये अहंकार निमित्त बना है उसकी उसे अनुभूति अनिवार्य है। साथ ही दैनिक ही उसे एक दो बार उसके कार्यकलाप को प्रत्यक्ष देखना भी चाहिये जिससे उसके मस्तिष्क में प्रत्यक्ष अनुभूति के संस्कार निर्मित हों और पुष्ट होते रहें, तभी अहंकार कर्मक्षेत्र में यह स्मरण रख सकेगा कि वह कर्म का कर्ता नहीं वरन कर्म करने में निमित्त है।

अब प्रश्न यह उठता है कि अहंकार जिसके लिये निमित्त बनकर कर्म करना चाहे वह सत्ता क्या है और उसकी दैनिक प्रत्यक्ष रूप में अनुभूति किस प्रकार हो ?

मैं अपने अनुभव के आधार पर कह सकता हू कि वह सत्ता मेरी शक्ति है जिसके लिये मेरा अहंकार निमित्त बनकर कर्म करता है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर भी उसकी शक्ति है जो सदैव शरीर में विद्यमान रहती है। इसकी अनुभूति तभी सम्भव है जबकि व्यक्ति का अहंकार कुछ न करे और उसका सेवकभाव, चेतावनी देने के भाव के आदेशानुसार बर्तने लगे। इस प्रकार जब अहंकार कुछ भी नहीं करता तो सेवकभाव का आदेश पालन करना और चेतावनी देने का भावों का आदेश देना किस सत्ता के बल पर होता है ?निस्सन्देह जिस सत्ता के बल से सेवकभाव आदेश पालन करता है और चेतावनी देने वाला भाव आदेश देता है वह सत्ता ही शक्ति है जिसके लिये अहंकार निमित्त बनकर कर्म करना चाहता है अब इस शक्ति की अनुभूति कैसे हो? इस दृष्टि से

जो व्यक्ति अपनी शक्ति की अनुभूति करना चाहता है उसे अत्यन्त ही श्रद्धालु होना चाहिये। श्रद्धालु व्यक्ति को अपनी शक्ति की शरण में जाना चाहिये यानी अत्यन्त सच्चाई से उसे आत्मसमर्पण करना चाहिये ध्यान रहे कि शक्ति चैतन्यसत्ता है। वह सब कुछ समझती हैं उसे धोखा नहीं दिया जा सकता अतः इच्छुक एवं श्रद्धालु साधक ही शक्ति की अनुभूति करने का अधिकारी होता है।

अधिकारी साधक को अपनी शक्ति की अनुभूति के लिये उस सदगुरु से सम्पर्क साधना चाहिये जो शक्ति के रहस्य का ज्ञाता हो। सदगुरु के सम्मुख बैठकर उसे आत्मसमर्पण का भाव व्यक्त करना चाहिये यानी उसे स्पष्ट कहना चाहिये कि 'अब मैं जो कुछ भी कर्म करूंगा शक्ति के लिये करूंगा। उसके समस्त उत्तरदायित्व शक्ति के उत्तरदायित्व हैं, ऐसा मैने स्वीकार कर लिया है। अब मैं सेवकवत् आचरण करूंगा।'' इस प्रकार सच्चाई से निवेदन करने पर सद्गुरु स्पष्ट रूप से साधक को समझा देते हैं कि उनके अन्दर की शक्ति समभाव से प्राणीमात्र में व्याप्त है। इस भावना से ही साधक परिस्थिति के अनुसार चाहे सदगुरु के चरणों को स्पर्श करे, चाहे उनके मुख से निकले मंत्र को मन ही मन दुहरावे, चाहे अपने सिर या मस्तक पर सद्गुरु के हाथ का स्पर्श अनुभव करे, किसी भी क्रिया के माध्यम से उसे तुरन्त ही अनुभव होने लगेगा कि अब उसके बिना किये ही शरीर में हरकतें होने लगी हैं, आँखे मिचने लगी है शरीर में कंप हो रहा है अथवा अन्य कोई क्रिया हो रही है। इस प्रकार कुछ समय तक स्वतः ही क्रियायें होंगी। साधक को चैतन्यता भी बनी रहेगी और उसे अनुभव भी होगा कि वह अपनी ओर से कुछ भी नहीं कर रहा है। क्रियायें स्वतः ही हो रही है उसका सेवकभाव चेतावनी देने वाले भावो का आदेश पालन कर रहा है, जबकि उसका अहंकार सब क्रियाओं का साक्षीमात्र है। क्रियाओं का वेग उतरने पर साधक पुनः अपनी पूर्वस्थिति पर आ जावेगा। जितनी देर तक वह साधना में बैठेगा उतनी देर तक सत्य ही, वह कुछ नहीं करेगा। सब काम उसकी प्रकृति के माध्यम से होंगे। अतः स्पष्ट है कि जितनी अवधि में साधक अपनी ओर से कुछ भी न करेगा उतनी देर तक निश्चय ही उसके मस्तिष्क में 'मैं कुछ नहीं करता, प्रकृति ही सब कुछ करती है'' के स्मृतिचिह्न निर्माण होंगे। साधना में बैठने के उपरान्त साधक कर्मक्षेत्र में उतरेगा। किन्तु, कर्म करने का ढंग अब उसका बदला हुआ होगा यानी साधना में बैठने से पूर्व कर्मक्षेत्र में उतरते समय वह कर्म का कर्ता बनकर उतरता था जिससे कर्म के परिणाम अनुकूल एवं प्रतिकूल निकलने पर वह सुख-दुःख में उलझ जाता था। किन्तु अब वह अपने को शक्ति का सेवक समझकर

शक्ति के लिये ही कर्म करेगा यानी वह अपने को निमित्त समझेगा। फलतः अनुकूल या प्रतिकूल फल का प्रभाव उस पर न पड़ेगा। उसका मस्तिष्क संतुलित रहेगा।

ध्यान रहे, जब साधक अपनी शक्ति का अनुभव कर लेता है तब जब भी वह चाहे तभी शक्ति का स्मरण करे अथवा अपने ध्यान को अन्तर्मुखी करे तो उसे तुरन्त ही शक्ति संवेदन अपने शरीर के किसी न किसी भाग में अवश्य अनुभव होगा। काम करते समय भी शक्ति की अनुभूति यदा-कदा स्वतः ही होती रहेगी। फलतः साधक को स्वीकार करना पड़ेगा कि जिसके निमित्त वह काम कर रहा है वह निश्चयात्मक रूप से उसके अन्दर नित्य उपस्थित रहती है। तब वह अपनी स्थिति को भली प्रकार समझेगा कि जिसके लिये वह निमित्त बना हुआ कर्म करता है वह प्रतिक्षण उसके पास ही रहती है। सत्य ही, स्वामी के सम्मुख सेवक को काम अच्छा करना चाहिये। अतः साधक शक्ति की अनुभूति से उत्तमता से कर्म करने का भी सहज अभ्यासी हो जावेगा।

ध्यान रहे कि शक्ति की अनुभूति करना मात्र पर्याप्त नहीं है। अनुभूति करने के उपरान्त भी साधक को अपने सदगुरु से सम्पर्क बनाये रखना चाहिये जिससे विचारों का आदान-प्रदान का मार्ग अवरुद्ध न हो और साधक की उत्तरोत्तर प्रगति होती रहे। विघ्नबाधाओं का आना तो स्वाभाविक है, पर उनका निराकरण सदगुरु के माध्यम से होता रहेगा।

कभी-कभी ऐसा भी अनुभव हुआ है कि किसी साधक को अनुभूति के लिये सद्‌गुरु से सम्पर्क स्थापित नहीं करना पड़ा। उसने अपनी लगन एवं सच्चाई से शक्ति को आत्मसमर्पण कर दिया और उसे अनुभूति का लाभ स्वतः ही मिल गया है। किन्तु, इस प्रकार स्वतः ही अनुभूति कर लेना महान कठिन है। सैकड़ो साधकों में से एक दो साधक ही सफलता प्राप्त करते है। फिर भी केवल अनुभूति कर लेना ही पर्याप्त नहीं होता। सद्‌गुरु से सम्पर्क तो रखना ही पड़ेगा। एक व्यक्ति समस्त जानकारियों का भंडार नही हो सकता। सद्‌गुरु ज्ञान का असीम भंडार होता है। अनेक साधकों से उसका सम्पर्क रहता है। अनेक साधकों की कठिनाइयाँ उसने हल की हैं। अतः सदगुरु से सम्पर्क रखना प्रत्येक स्थिति में अनिवार्य समझना चाहिये।

--00--

महात्मा श्री नारायणदास जी प्रणीत ग्रन्थ

1. गीतामृत (जीवन यापन की कला)
   (प्रथम भाग अध्याय 1 से 6)
2. गीतामृत (जीवन यापन की कला)
   (द्वितीय भाग अध्याय 7 से 12)
3. गीतामृत (जीवन यापन की कला)
   (तृतीय भाग अध्याय 13 से 18)
4. रामचरित मानस के 10 प्रसंग
5. रामचरित मानस के 10 रहस्य
6. साधक शंका समाधान
7. साधक प्रश्नोत्तर शतक (प्रथम)
8. साधक प्रश्नोत्तर शतक (द्वितीय)
9. साधक विचार प्रगति
10. साधक साधना (भजन)
11. जैसे मैंने सीखा
    (अनुभूति से पूर्व की मेरी जीवन घटनायें)
12. कुण्डलिनी (व्यक्तिगत अनुभव)
13. आत्मबोध
14. Realisation of the Self (English)
15. साधना
16. स्वशक्ति साधना का संक्षिप्त परिचय
17. दिव्यशक्ति बोध (भजन)
18. वचनामृत
19. बुद्धि विकास
20. बापू के एकादश वृत
21. ईशावास्योपनिषद् (व्यक्तिगत दृष्टिकोण)
22. मानव विकास की पूर्णता
23. कुण्डलिनी का जीवन में उपयोग (सजिल्द)
24. रामचरित मानस में कुण्डलिनी (व्यक्तिगत अनुभव)
25. मैंपन का विवेचन (व्यक्तिगत अनुभव)

प्रकाशक - नारायण आध्यात्मिक ट्रस्ट शिवपुरी

सम्पर्क : 9584839311, 9406982106

मुद्रक - मुकेश प्रेस, शिवपुरी (म. प्र.) मोबा. 9407230499